

महान् भारतीय

लेखिका

प्रो० ब्रह्मवती नारंग

विद्यालंकृता, साहित्यरत्न

कन्या गुरुकुल देहरादून

आत्माराम एण्ड संस दिल्ली

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रथम संस्करण
मूल्य दो रुपये
१९४९

मुद्रक
यूनिवर्सिटी ट्यूटोरियल प्रैस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रकाश-स्तम्भ

स्वतन्त्र भारत में उन विभूतियों के जीवन-स्मरण का महत्त्व अत्यन्त आवश्यक है, जिन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा एवं कार्य-कुशलता द्वारा देश के राजनीति, समाज-सुधार, शिक्षा, विज्ञान एवं दर्शन आदि विभिन्न क्षेत्रों में जागृति उत्पन्न की है। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे ही २८ महापुरुषों का जीवन श्रीमती ब्रह्मवती विद्यालंकृता ने प्रस्तुत किया है।

लेखिका की शैली पारिमार्जित, भाव सुदृढ़ एवं भाषा अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है। देश की सुनहली आशा बालकों के लिए यह पुस्तक एक प्रकाश-स्तम्भ का काम देगी। आशा है इसके द्वारा उन्हें अपने जीवन-निर्माण में असीम बल एव बलिदान की भावना का सरस सहारा प्राप्त होगा।

—प्रकाशक

कहाँ क्या ?

राजनीतिक

[पृष्ठ १ से पृष्ठ ४५ तक]

शिक्षा-शास्त्री, समाज-सुधारक

[पृष्ठ ४६ से पृष्ठ ८१ तक]

वैज्ञानिक, आविष्कारक

[पृष्ठ ८२ से १२२ तक]

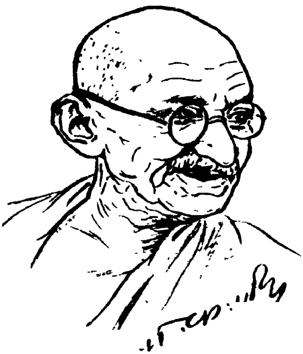
दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता

[पृष्ठ १२३ से पृष्ठ १६६ तक]

राजनीतिज्ञ



लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक



महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गान्धी





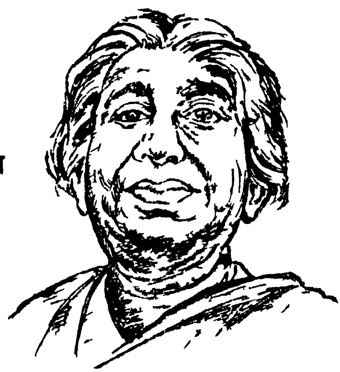
नेताजी सुभाषचन्द्र बोस



पं० जवाहरलाल नेहरू



सरदार वल्लभभाई पटेल



भारत कोकिला सरोजिनी नायडू

राजनीतिज्ञ

एक

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

अपने जीवन के ५० वर्षों की अनवरत साधना, कठिन तपश्चर्या तथा महान् त्याग के द्वारा भारतीय स्वाधीनता के भव्य भवन की नींव डालने वाले लोकमान्य तिलक के नाम से कौन भारतीय परिचित नहीं है ? लोकमान्य जहाँ कर्मठ और साहसी सेनानी थे, वहाँ पूरे विचारक और राजनीतिज्ञ भी थे। उनके ओजस्वी व्यक्तित्व से क्षत्रित्व का विशेष तेज टपकता था, जो विद्या, बुद्धि एवं सात्विकता की आभा से और भी प्रदीप्त हो उठा था। उनके जीवन की विशेषता थी, उनकी सतत कर्मण्यता। अपने सिद्धान्त पर वे हिमालय की भाँति अटल रहे और अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीवन के अन्तिम क्षण तक प्रयत्नशील रहे। उनकी राजनीति का सार था—*शठे शाठ्यम्*—जैसे को तैसा। उन्होंने जीवन पर्यन्त इस सिद्धान्त को निभाया। लोकमान्य अपनी संस्कृति, रीति-नीति तथा आचार के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते थे। जनता के लिए उनके हृदय में आदर और प्रेम था और कदाचित् यही उनकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण था। जनता के प्रत्येक कार्य में, उत्सवों में, रीति-रिवाजों में वे समान रूप से भाग लेते रहे और साथ ही उसका पथ-प्रदर्शन करके उन्नति के राजमार्ग की ओर अग्रसर होते रहे। भारतीय जनता के समक्ष सबसे प्रथम *'स्वराज्य'* शब्द का अर्थ प्रतिपादित करने वाले आप ही थे।

लोकमान्य तिलक का जन्म २३ जुलाई १८५६ को रत्नागिरी में हुआ। आपके पिता गंगाधर रामचन्द्र तिलक पूना जिले के स्कूलों के डिप्टी इन्सपैक्टर थे। लोकमान्य बाल्यावस्था से ही बड़े मेधावी तथा

प्रखर बुद्धि के थे। ८ वर्ष की आयु में ही आपने भिन्न तक गणित, रूपावली, समास-चक्र तथा आधा अमरकोश कंठस्थ कर लिया था। दस वर्ष की अवस्था में आपने पूना के सिटी स्कूल में प्रवेश किया। १८७२ में मैट्रिक की परीक्षा पास करके १८७६ में *डेक्कन कालिज* से बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। १८७९ में एल-एल० बी० की परीक्षा पास की। कालिज-जीवन से ही आपकी रुचि सार्वजनिक कार्यों की ओर हो गई थी। आपने निश्चिय कर लिया था कि जीवन-भर सरकारी नौकरी न करके देश-सेवा का कार्य करता रहूँगा।

शिक्षा-समाप्ति के साथ ही लोकमान्य के सार्वजनिक कार्यों का आरम्भ हो जाता है। सर्वप्रथम आपका ध्यान शिक्षा-प्रसार की ओर गया। इसके परिणाम स्वरूप आपने १ जनवरी १८८० को *न्यू इंग्लिश स्कूल* की स्थापना की। अल्प काल में ही उक्त स्कूल पर्याप्त उन्नति कर गया। २४ अक्तूबर १८८४ को आपके सद्प्रयत्नों में *दक्षिण-शिक्षा-समिति* की स्थापना हुई और १८८५ में इसी समिति की ओर से *फर्गुसन-कालिज* की नींव डाली गई। इस प्रकार अपने अथक परिश्रम द्वारा लोकमान्य ने महाराष्ट्र में शैक्षणिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

इस समय आपकी विद्वत्ता की छाप अनेक विद्वानों के मन पर अंकित हो चुकी थी। इन्हीं दिनों आपने *ओरियण्टल सोसायटी* के लिए ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर एक निबन्ध लिखा, जिसकी देश-विदेशों में बड़ी चर्चा फैली। इस निबन्ध में वेदों की प्राचीनता सिद्ध की गई थी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध के कारण मैक्समूलर आदि विदेशी विद्वानों के हृदय में भी आपके लिए श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो गया था।

शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों के साथ ही आपने जनता में नव चेतना एवं नव जागृति उत्पन्न करने के लिए दो साप्ताहिक पत्र भी निकाले। पहला *केसरी* अंग्रेजी में, जिसका सम्पादन आपके मित्र आगरकर

करते थे। दूसरा *मरहटा*, जिसका सम्पादन स्वयं लोकमान्य करते थे। सन् १८८१ में *केसरी* और *मरहटा* में कोल्हापुर रियासत के सम्बन्ध में कुछ आपत्तिजनक लेख प्रकाशित करने के अपराध में आगरकर और तिलक को चार-चार मास कारावास की सजा हुई। इस सजा से तिलक और आगरकर का नाम जनता में प्रसिद्ध हो गया और दोनों के प्रति लोगों में श्रद्धा-भाव बढ़ गया।

१८९३-९४ में आपने महाराष्ट्र में जागृति उत्पन्न करने के लिए दो नवीन उत्सवों की परिपाटी चलाई। पहला *गणेश-उत्सव* और दूसरा *शिवाजी-उत्सव*। ये दोनों उत्सव सार्वजनिक रूप से मनाये जाते थे। हजारों की संख्या में लोग इन उत्सवों पर एकत्र होते थे और राजनीतिक विषयों पर वाद-विवाद एवं भाषण आदि होते थे। आज भी ये उत्सव महाराष्ट्र में उसी उत्साह के साथ मनाये जाते हैं।

सन् १८९५ में लोकमान्य को बम्बई प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल का सदस्य चुना गया। १८९६ में महाराष्ट्र में घोर अकाल पड़ा, आपने अकाल-पीड़ितों की भरसक सहायता की। १८९७ में *मरहटा* में प्रकाशित कुछ आपत्तिजनक पद्यों को लेकर आप पर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया, जिसके परिणाम स्वरूप आपको १८ मास की कड़ी कैद की सजा दी गई। किन्तु अध्यापक मैक्समूलर, सर विलियम हण्टर तथा दादाभाई नौरोजी के प्रयत्नों से आप सजा की अवधि से ६ मास पूर्व ही छोड़ दिये गए।

सन् १८९८ से कांग्रेस में भी आपका प्रभाव बढ़ने लगा। आप एक उग्र विचारों के नेता थे, अतः कांग्रेस की नरम-नीति आपको पसन्द नहीं थी। आपने कांग्रेस में एक उग्र दल की स्थापना की और उसका नेतृत्व स्वयं करने लगे। १९०५ में बंग-भंग के कारण देश के राजनीतिक आन्दोलन में विशेष चेतना का संचार हुआ। तब आपके नेतृत्व में उग्रदल ने कांग्रेस पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। १९०७ में सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। जिसमें दोनों दलों में

झगड़ा हो गया और आपका उग्र दल कांग्रेस से पृथक् हो गया।

सन् १६०८ में सरकार ने आप पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर ६ वर्ष के निर्वासन एवं १०००) रु० जुर्माने की सजा दी। आप ६ वर्ष तक मांडले (बर्मा) जेल में रहे। वहाँ आपको अनेक यातनाएं सहन करनी पड़ीं। जेल में ही आपने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ *गीता-रहस्य* लिखा। *गीता-रहस्य* में कर्मयोग की श्रेष्ठता को प्रमाणित किया गया है। अभी आप जेल में ही थे कि आपकी पत्नी का देहावसान हो गया। १६१४ में आप जेल से रिहा किये गए।

१६१४ में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने से देश में अशान्ति की लहर दौड़ गई। इसी समय लोकमान्य ने देश में *स्वराज्य* का नारा बुलन्द किया। आपने समस्त देश का विस्तृत भ्रमण करके राष्ट्र की सोई हुई शक्ति को पुनः जागृत किया। इस समय राष्ट्र के कोने-कोने में तिलक की यह ललकार गूँज रही थी—*स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर ही रहूँगा।* इस समय कांग्रेस के नरम-दल में गांधी जी का आधिपत्य था। गांधीजी महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार को बिना किसी शर्त के सहायता देने के पक्ष में थे—तिलक ने इसका विरोध किया। इनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार की नीयत का कोई भरोसा नहीं, अतः सरकार हमें जितने अधिकार देगी, उतनी ही उसकी सहायता की जाय। इस बात पर गांधीजी और लोकमान्य में मतभेद हो गया। किन्तु लोकमान्य अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। महायुद्ध की समाप्ति पर उनकी बात की सत्यता गांधीजी को भी स्वीकार करनी पड़ी। वास्तव में तिलक एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे। परिस्थिति से लाभ उठाना वे भली प्रकार जानते थे।

सन् १६१८ में दिल्ली में होने वाले कांग्रेस-अधिवेशन का आपको सभापति चुना गया, किन्तु इसी बीच आप इंगलैंड चले गए। १६१६ में अमृतसर-कांग्रेस में आप सम्मिलित हुए थे। वहाँ आपका भाषण बड़ा तर्कपूर्ण एवं प्रभावशाली था। आपने सरकारी सुधारों की कटु

आलोचना की। आप कांग्रेस को प्रजावादी-दल बनाकर शिक्षा, आन्दोलन एवं संगठन द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति का स्वप्न देख रहे थे, किन्तु कुसमय ने आपका स्वप्न पूरा न होने दिया। सन् १६२० में आपने *डेमोक्रेटिक स्वराज्य-पार्टी* की स्थापना की, जिसका उद्देश्य मांटेग्यू-सुधार योजना के सम्बन्ध में कार्य-शैली स्थिर करना था।

१६२० में एक मुकदमे के सम्बन्ध में आप बम्बई गये, किन्तु वहाँ जाकर बीमार होगए। आपकी बीमारी से समस्त देश में चिन्ता फैल गई। बड़े-बड़े योग्य डाक्टरों की चिकित्सा से भी लाभ न हुआ और २१ जुलाई को रात्रि के साढ़े बारह बजे भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का यह साहसी सेनानी सदैव के लिए सो गया। आपकी मृत्यु का दुःखद समाचार सुनकर क्या हिन्दू-क्या मुसलमान—समस्त देशवासी व्यग्र हो उठे।

महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी

बीसवीं शताब्दी में उत्पन्न, उन विश्व-व्यापी शक्तियों में, जिन्होंने संसार के बहुत बड़े भाग की एक एकदम काया पलट दी, महात्मा गांधी का स्थान सबसे ऊँचा है। गान्धीजी विश्व-प्रेम के अग्रदूत तथा सत्य और अहिंसा की प्रतिमूर्ति के रूप में भारत में प्रकट हुए। वास्तव में गांधीजी मानव-जाति के नैतिक विकास की चरम सीमा थे। उनकी धार्मिक महत्ता हिमालय के समान विशाल और उच्च थी। मानवता ने जो विकास और उन्नति महात्मा गांधी में पाई, वैसी पहले कहीं और कभी नहीं पाई थी। क्योंकि यह महात्मा एक साथ धर्म, राजनीति, समाज-नीति, अर्थशास्त्र तथा जीवन के अन्य सभी पहलुओं में विकास के उस बिंदु पर पहुँचा है, जिस पर अन्य कोई व्यक्ति नहीं पहुँच पाया है। उसने संयम तथा त्याग का पालन इस रूप में किया, जो विश्व के इतिहास में सचमुच अश्रुतपूर्व तथा अभूतपूर्व है। हमारे लिए यह कम सौभाग्य और गौरव की बात नहीं है कि जिस भारत ने महात्मा बुद्ध को जन्म दिया, उसी ने पाँच हजार वर्षों बाद महात्मा गांधी जैसा नरदेव इस भूली-भटकी दुनिया के लिए पथ-प्रदर्शक पैदा किया। इस महामानव ने भौतिकवाद से उन्मत्त दुनिया के सामने आत्म-शक्ति और चरित्र-बल का उच्च आदर्श उपस्थित किया। हिंसा और बर्बरता में विश्वास रखने वालों को सत्य और अहिंसा का अद्भुत चमत्कार दिखाकर चकित कर दिया। विलासिता और ऐश्वर्य में रत दुनिया को सादगी और ब्रह्मचर्य के पथ का दिग्दर्शन कराया। अपने धर्म-बल तथा आत्म-बल द्वारा ब्रिटिश

सत्ता के पंजे से अकिंचन भारत को स्वतंत्र कराया। यद्यपि, गांधीजी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के सच्चे और सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि थे, तथापि उनमें विश्व-आत्मा की उच्चतम आशाओं और आकांक्षाओं का सार्थक प्रतिबिम्ब झलकता था। इसी से हम कह सकते हैं कि गांधीजी एकदेशीय नहीं, प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति थे। उनके जीवन में सम्पूर्ण मानव जाति के विकसित स्वरूप का प्रतिबिम्ब चित्रित हुआ।

मोहनदास कर्मचन्द गांधी का जन्म २ अक्तूबर १८६९ को काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता श्री कबा गांधी राजकोट राज्य के दीवान थे। उनकी माता पवित्रता एवं सादगी की मूर्ति थीं। वे समस्त धार्मिक रीतियों का प्रेम और श्रद्धापूर्वक पालन किया करती थीं। माता के पवित्र जीवन का बालक गांधी पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। उनके बाल-जीवन की मुख्य विशेषता उनकी सत्य-निष्ठा थी।

मैट्रिक तक की शिक्षा स्वदेश में ही समाप्त की गांधीजी कोई बहुत प्रतिभाशाली विद्यार्थी न थे। परन्तु वे जानते थे कि मुझे जीवन में क्या करना है। यद्यपि उनका परीक्षा-परिणाम बहुत उज्ज्वल नहीं हुआ करता था; तथापि वे चरित्र और व्यावहारिक ज्ञान नामक उन दो गुणों का विकास कर रहे थे, जिनसे संसार में सच्ची सफलता प्राप्त होती है। वे प्रत्येक बात को बुद्धिपूर्वक तथा व्यावहारिक ढंग से सीखते थे। उनका विश्वास था कि सम्पूर्ण शिक्षा देशीय भाषाओं के माध्यम द्वारा होनी चाहिए, अंग्रेजी माध्यम द्वारा नहीं।

मैट्रिक पास करके गांधी जी कानून का अध्ययन करने विलायत गये। वे माता के सामने पवित्र प्रतिज्ञाएं करके गए कि *उस दूर देश में भी सत्य न छोड़ूंगा और आपकी आज्ञाओं का पालन करूंगा।* नवयुवक मोहन ने उन प्रतिज्ञाओं का धैर्यपूर्वक अक्षरशः पालन किया। यद्यपि उन्होंने विलायत में महाविद्यालय व विश्वविद्यालय

में विशेष सम्मान प्राप्त किया था, तो भी उन्होंने उन गुणों को धारण करने में विशेष उन्नति की, जिनसे सच्चे जीवन का निर्माण होता है। वे बैरिस्टर बन गए और १२ जून १८९१ को इंगलैंड से भारत में आने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि चिरकाल पूर्व माताजी का देहान्त हो चुका है और मेरे भाई ने यह बात मुझसे छिपा रखी है। फिर गांधीजी ने वकालत का कार्य आरम्भ किया, परन्तु उसमें उन्हें विशेष सफलता न मिली।

१८९३ में गांधीजी को एक मुकदमे के सम्बन्ध में दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। वहाँ जाकर उन्होंने प्रवासी भारतीयों पर होने वाले अनाचारों को देखा, तो उनका हृदय द्रवित हो उठा। स्वयं उन्हें भी नाना प्रकार के अपमान सहने पड़े। उनके हृदय में इन अपमानों का प्रतिकार करने की भावना प्रबल हो उठी। उन्होंने अपमानित भारतीयों का संगठन करके उनका नेतृत्व अपने हाथ में लिया। *रस्किन* एवं *टाल्स्टाय* के अनुभवों से उन्हें अहिंसात्मक प्रतिशोध की प्रेरणा मिली। वहाँ उन्होंने शान्तिपूर्वक सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। फीनिक्स में सत्याग्रह-आश्रम खोला व *इण्डियन ओपीनियन* पत्रिका प्रकाशित की। 'नेटाल भारतीय कांग्रेस' की स्थापना हुई। यहीं पर गांधी जी ने उन अनुभवों को प्राप्त किया, जिनके द्वारा जीवन में उन्होंने भारी सफलता प्राप्त की। दक्षिण अफ्रीका की सरकार को झुकना पड़ा और गांधीजी की विजय हुई।

दक्षिण अफ्रीका के विजयी गांधीजी स्वदेश लौट आये। यहाँ आकर उन्होंने देश की समग्र परिस्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन किया। महामान्य गोखले से भेंट करके उनके राजनीतिक अनुभवों का अध्ययन किया। साबरमती में सत्याग्रह-आश्रम खोला। और स्वदेशी के रचनात्मक कार्यों का सूत्रपात किया। अब गान्धी जी भारतीय राजनीति के निकट सम्पर्क में आ चुके थे। अपने अहिंसा के प्रयोगों को उन्होंने यहाँ भी आरम्भ कर दिया। इसी बीच प्रथम

महायुद्ध प्रारम्भ हो गया अंग्रेजों की न्याय-प्रियता पर गांधीजी को पूर्ण विश्वास था। युद्ध में हर प्रकार से अंग्रेजों को सहायता करना ही उन्होंने देश के लिए श्रेयस्कर समझा। किन्तु युद्ध समाप्त होते ही अंग्रेजों की नीयत का उन्हें तुरन्त परिचय मिल गया। गांधीजी को अपनी आशाओं का विकृत रूप जलियाँ वाला बाग में देखने को मिला। यह भारत द्वारा दी गई सहायता का प्रतिकार किया था। परिणाम स्वरूप ब्रिटिश सरकार के प्रति गांधीजी का विश्वास कम होता गया।

अंग्रेजों द्वारा इस प्रकार अपनी आशाओं को कुचलते हुए देखकर गांधीजी की प्रतिकार की भावना और भी भड़क उठी। इसी बीच अंग्रेजों द्वारा टर्की के हिस्से-बखरे करने, उसे मित्र राष्ट्रों में बाँटने की योजना से भारतीय मुसलमान भी अंग्रेजों से असन्तुष्ट हो गए। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अंग्रेजों से प्रतिशोध के लिए व्यग्र हो उठे। गांधीजी ने उनका नेतृत्व किया और निम्नलिखित तीन बातों को सिद्ध करने के उद्देश्य से देश-भर में सत्याग्रह-का आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। पहली, तुर्की के हिस्से-बखरे करने का विरोध, इसे खिलाफत-आन्दोलन का नाम दिया गया। दूसरी, पंजाब में की गई गलती का प्रतिकार, अपराधी कर्मचारियों को दण्ड देने की माँग। तीसरी, स्वराज्य की प्राप्ति। यह आन्दोलन पूर्णतया अहिंसा पर आश्रित था—इसे असहयोग-आन्दोलन का नाम दिया गया। यह आन्दोलन इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्वीकृति से से १९२० में आरम्भ किया गया। विदेशी का बहिष्कार और स्वदेशी का प्रचार इस आन्दोलन के प्रधान अंग थे। असहयोग-कार्यक्रम के अनुसार विद्यार्थियों ने स्कूल-कालिज, वकीलों ने कचहरियाँ, मेम्बरों ने कौंसिलों का परित्याग कर दिया। देश-भर में इस राष्ट्रीय आन्दोलन की धूम मच गई। सरकार परेशान हो गई कि इस आन्दोलन को कैसे दबाया जाय ? इसी बीच गांधीजी ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति

के लिए एक सामूहिक सत्याग्रह-आन्दोलन करने का निश्चय किया और बारदोली को आन्दोलन का क्षेत्र चुना गया। किन्तु इसी बीच चौराचौरी में कुछ हिंसात्मक घटनाएं हो गईं। सत्याग्रहियों ने पुलिस-कर्मचारियों को पीट डाला। अन्य क्षेत्रों से भी इसी प्रकार की घटनाओं की सूचना मिली। यह देखकर गांधीजी ने सत्याग्रह-आन्दोलन वापस ले लिया, सरकार ने उन पर अभियोग चलाया और ६ वर्ष की कैद हुई।

परन्तु बीमारी के कारण गांधीजी को दो वर्ष बाद ही छोड़ दिया गया। उस समय देश का वातावरण साम्प्रदायिक दङ्गों के कारण अत्यन्त विषाक्त हो रहा था। गांधीजी ने दंगों को रोकने के लिए २१ दिन का उपवास किया। गांधीजी के जीवन में इन उपवासों का अत्यन्त महत्त्व रहा है। अपने जीवन में उन्होंने अनेक ऐतिहासिक उपवास किये हैं और उनमें उन्हें सफलता भी मिली है।

सन् १९२९ तक महात्माजी खादी-प्रचार एवं हरिजनोद्धार आदि अन्य रचनात्मक कार्यों में व्यस्त रहे। १९२९ में लाहौर-कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति का प्रस्ताव पास होने से पुनः आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। इस आन्दोलन की बागडोर भी गांधीजी ने सँभाली। यह आन्दोलन *नमक-सत्याग्रह* के नाम से प्रसिद्ध है। साबरमती आश्रम से दाण्डी तक पैदल यात्रा करके गांधीजी ने वहाँ जाकर स्वयं नमक बनाकर नमक-कानून को भंग किया। यह दाण्डी-यात्रा एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। उस समय समस्त देश गांधीजी के पीछे था। जगह-जगह नमक बनाकर कानून तोड़ा गया। नवयुवकों से जेलें भर गईं। परन्तु अन्त में गांधी-इरविन-समझौता हो गया और सत्याग्रह बन्द हो गया।

सन् १९३१ में गांधीजी लन्दन में द्वितीय गोल मेज कान्फ्रेंस में सम्मिलित हु । किन्तु उन कान्फ्रेंसों से भी कोई लाभ न हुआ और अन्त में ब्रिटिश पार्लमेण्ट को अपनी समझ के अनुसार १९३५ का

गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट बनाना पड़ा। लन्दन से लौटते ही गांधीजी को पकड़ लिया गया। देश में पुनः अशान्ति एवं असहयोग की घटाएं छा गईं।

जेल से छूटने के बाद गांधीजी कांग्रेस के सक्रिय नेतृत्व से अलग हो गए। फिर भी कांग्रेस के नेता कठिनाई के समय गांधीजी से सलाह लिया करते थे। उनकी अनुमति से ही कांग्रेस ने नये विधान के अनुसार धारा-सभाओं में जाकर मंत्रि-मंडल बनाने का निश्चय किया था। इसी बीच दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार की युद्ध-नीति का विवरण माँगा, किन्तु ब्रिटिश सरकार तो अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ही तत्पर थी; अतः कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने अपने पदों से त्याग-पत्र दे दिये।

परन्तु ब्रिटिश सरकार जानती थी कि युद्ध जीतने के लिए भारत की सहायता प्राप्त करना आवश्यक है। इस उद्देश्य से उसने कांग्रेसी नेताओं से समझौते का प्रयत्न किया। इसी सम्बन्ध में वैधानिक एवं राजनीतिक सुधारों का प्रस्ताव लेकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत आये और कांग्रेस के नेताओं से समझौते का प्रयत्न किया, किन्तु परिणाम कुछ न निकला।

एक बार पुनः गांधीजी के नेतृत्व में विशाल सत्याग्रह-आन्दोलन करने को देश तैयार हो गया। गांधीजी ने 'भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द किया। बम्बई-कांग्रेस में गांधीजी को सामूहिक रूप में सत्याग्रह आरम्भ करने का अधिकार दिया गया। परन्तु सत्याग्रह आरम्भ होने से पूर्व ही सरकार ने गांधीजी तथा अन्य प्रमुख नेताओं को पकड़कर जेल में ठूँस दिया।

इस अपमान का बदला लेने के लिए समस्त देश में विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। स्थान स्थान पर भीषण आन्दोलन हुए। अगस्त' ४२ का यह विद्रोह भारतीय-स्वाधीनता के इतिहास में एक प्रसिद्ध घटना है। १६४३ में आरम्भ में गान्धी जी ने आत्म-शुद्धि के लिए

२१ दिन का प्रसिद्ध उपवास किया। देश में खलबली मच गई। गान्धी जी का जीवन संकट में पड़ गया। परन्तु फिर भी सरकार ने उन्हें नहीं छोड़ा। नजरबन्दी के दिनों में ही उनकी पत्नी कस्तूरबा एवं उनके प्राइवेट सेक्रटरी महादेव देसाई का देहान्त हो गया। इससे गान्धी जी को महान् शोक हुआ।

सन् १६४४ में लार्ड वेवल अपनी योजना लेकर भारत आये, तब अन्य नेताओं के साथ गान्धी जी को भी छोड़ा गया। शिमला-सम्मेलन हुआ और महात्मा गान्धी ने अन्य नेताओं के साथ मिलकर राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया, किन्तु परिणाम कुछ न निकला। अन्त में केबिनेट-मिशन के आगमन से अन्तःकालीन सरकार की स्थापना हुई। देश स्वाधीन हुआ, किन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में गान्धी जी चाहते थे। देश के वातावरण को ध्यान में रखते हुए गान्धी जी को भी देश का विभाजन स्वीकार करना पड़ा।

इसके पश्चात् देश में साम्प्रदायिक उपद्रवों का तांडव नर्त्तन हुआ पूर्वी बंगाल, बिहार तथा पंजाब में भीषण रक्तपात मचा। गान्धी जी ने दंगों को रोकने तथा हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर विश्वास उत्पन्न करने के लिए अपनी जान की बाजी लगा दी। नोआखाली में गाँव-गाँव की पैदल यात्रा उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण पृष्ठ है। कलकत्ता में उनके उपवास ने जादू का-सा प्रभाव दिखाया और तुरन्त उपद्रव बंद हो गए। दिल्ली में भी उन्होंने आकर ही शान्ति स्थापित की और लोगों की साम्प्रदायिक विचार-धाराओं को बदलने के लिए उपवास किया। उन्हें अपने कार्य में महान् सफलता प्राप्त हुई।

३० जनवरी १६४८ को सन्ध्या के पाँच बजे जब वे बिरला-भवन से प्रार्थना-सभा में जा रहे थे, तो एक मराठा युवक ने पिस्तौल से उनकी हत्या कर दी। कौन जानता था कि इस महान् आत्मा का अन्त इस प्रकार होगा। समग्र देश शोक-सागर में डूब गया। उनकी मृत्यु का संवाद सुनकर क्या बालक और क्या युवा तथा वृद्ध—सभी

रो पड़े। विदेशों से अनेक शोक-सम्वाद आये। दिल्ली में ही राजघाट पर यमुना के किनारे दूसरे दिन उनकी अन्त्येष्टि की गई। तेरह दिन पश्चात् उनकी अस्थियाँ एवं भस्म त्रिवेणी तथा अन्य प्रमुख नदियों में प्रवाहित की गईं। गान्धी-स्मारक कोष खोला गया और देश अपने राष्ट्र-पिता का योग्य स्मारक बनाने का प्रयत्न कर रहा है।

मानवी सभ्यता के विकास में उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने जीवन-भर इस बात का यत्न किया कि साधारण जनता उन आदर्शों को अपना ले, जिन्हें राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा-सरीखे बिरले ही व्यक्ति अपना सके हैं। श्रीमती एनी वेसेंट ने उनके सम्बन्ध में कहा था कि यदि सब मनुष्य गान्धी जी के चरण-चिह्नों पर चलने लग पड़ें, तो परमेश्वर भी पृथ्वी पर चलना आरम्भ कर देगा। वास्तव में नवीन भारत के निर्माता, पवित्रात्मा, उद्योगशील दृढ़-संकल्प, कपट-शून्य और मनुष्य-मात्र के हितैषी महात्मा गान्धी वस्तुतः ऐसे ही थे।

तीन

पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय

पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय का नाम भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में चिर काल तक अमर रहेगा। उनका स्वदेश-प्रेम गंगाजल की भाँति विशुद्ध, देश-भक्ति की भावना निष्कपट और इनका त्याग महान् था। आप सरलता, सादगी और विनम्रता की सजीव प्रतिमा थे। स्वाधीनता-संग्राम के उन वीर सैनिकों में, जिन्होंने स्वतंत्रता की वेदी पर अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया, आपका नाम और काम किसी से पीछे नहीं है। क्या शिक्षा-सुधार, क्या समाज-सुधार, और क्या राजनीति-सभी क्षेत्रों में आपकी सेवाएं उल्लेखनीय हैं। विशेषतः पंजाब तो आप पर जितना गर्व करे, थोड़ा है।

लाला लाजपतराय का जन्म सन् १८६५ में हुआ था आपके पिता ला० राधाकृष्ण जिला लुधियाना (पंजाब) के जगराँव गाँव के रहने वाले थे। वे स्कूलों के इन्स्पैक्टर थे। ला० लाजपतराय बचपन से ही बड़े मेधावी और प्रखर बुद्धि के थे। बाल्यकाल ही में उन्होंने समस्त धार्मिक एवं ऐतिहासिक पुस्तकों का अध्ययन कर लिया था। इसी कारण बाल्यावस्था से ही उनमें देश-प्रेम एवं अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी थी। अवस्था के साथ साथ उनके विचार भी परिष्कृत होने लगे।

प्रारम्भिक शिक्षा पिता के पास ही प्राप्त करने १८८० में लुधियाना के मिशन-स्कूल से मैट्रिक पास किया। पुनः लाहौर आकर एफ० ए० पास किया और मुख्तारी की परीक्षा देकर सन् १८८३ में पहले जगराँव

और फिर रोहतक में मुख्तारी करने लगे। तत्पश्चात् वकालत की परीक्षा पास करके हिसार आ गए और वहाँ कानूनी प्रैक्टिस करने लगे कुछ ही दिनों में इस कार्य में आपने पर्याप्त ख्याति पर्याप्त कर ली। आपकी प्रसिद्धि का कारण आपकी समाज-सेवा की भावना भी थी। वकालत के साथ-साथ आप सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने लगे। आर्य-समाज में आप प्रारम्भ से ही दिलचस्पी लेते रहे थे। अतः दिनों-दिन आपकी लोक-प्रियता बढ़ने लगी।

१८९२ में आप लाहौर आकर वकालत करने लगे। वहाँ जाकर आपने शिक्षा-प्रसार के लिए अथक परिश्रम किया। आपने डी० ए० वी० कालिज को अपनी सेवाएं समर्पित कर दीं। आप उसके अध्यापक तथा अवैतनिक मन्त्री नियुक्त हुए। १९०१ में आपने पंजाब की शिक्षा समिति की नींव डाली और जगराँव में अपने पिता के नाम पर राधाकृष्ण हाई स्कूल तथा पंजाब के अनेक स्थानों पर प्राइवेट स्कूल खुलवाये। शिक्षा-क्षेत्र में यह आपका क्रान्तिकारी कार्य था।

इसके अनंतर आपने जन-सेवा के कार्यों में तन,मन,धन से भाग लिया। १८९६ में उत्तरी भारत में तथा १८९९ में राजपूताना में भीषण दुर्भिक्ष पड़े। लाला जी ने अकाल-पीड़ितों की सहायता में दिन-रात एक कर दिया। इससे आपकी लोक-प्रियता में चार चाँद लग गए। सन् १९०७-८ में बिहार तथा युक्त-प्रान्त के अकाल-पीड़ितों की भी आपने सहायता की। बिहार-दुर्भिक्ष के समय सरकार ने भी आपके कार्यों की प्रशंसा की थी। १९०५ में कांगड़ा में भूचाल से जन-धन की अत्यन्त क्षति हुई। लाला जी स्वयं वहाँ गये और स्वयं-सेवक-संघ बनाकर अकाल-पीड़ितों की सहायता की।

इन समस्त कार्यों के साथ-साथ कांग्रेस में भी आपका प्रभाव बढ़ रहा था। सन् १८८८ में प्रथम बार इलाहाबाद-कांग्रेस में सम्मिलित

हुए। वहां आपने कौंसिल-सुधार के प्रस्ताव पर महत्त्वपूर्ण भाषण दिया, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई। आपकी प्रेरणा से ही कांग्रेस का ध्यान शिक्षा-सुधार एवं देशी उद्योग-धन्धों की ओर आकर्षित हुआ था। तत्पश्चात् आप कांग्रेस के सभी अधिवेशनों में भाग लेते रहे और पंजाब के प्रमुख कांग्रेसी नेता माने जाने लगे।

१६०६ में कांग्रेस का जो शिष्ट-मण्डल इंगलैंड गया उसके आप भी सदस्य थे। इसके अनन्तर १६११ में भेजे गए शिष्ट-मंडल के साथ भी आप इंगलैंड गये। इसके अतिरिक्त पुनः कई बार व्यक्तिगत रूप से इंगलैंड जाकर आपने अपने लेखों, भाषणों एवं भेंटों द्वारा भारत के लिए सराहनीय कार्य किया। १६१४ के महायुद्ध के समय आप इंगलैंड में ही थे। आपको भारत आने की आज्ञा नहीं दी गई, तब आप अमरीका चले गए। वहाँ जाकर आपने अमरीकन-जनता के हृदय में भारत के प्रति सहानुभूति उत्पन्न की और भारतीय स्वाधीनता के लिए जबरदस्त प्रचार किया। अमरीका में आपने *इण्डियन होमराल लीग* तथा *इण्डियन इन्फारमेशन ब्यूरो* नामक संस्थाएं स्थापित कीं। वहां से आपने *यंग इण्डिया* नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया। भारत के सम्बन्ध में बहुत-सी पुस्तकें भी लिखीं और मुफ़्त वितरित किया। इस प्रकार दूर देश में रहकर भी आपने स्वदेश के लिए अनुपम कार्य किया। १६२० में आप अमरीका से भारत लौट आये।

सन् १६०७ बंग-भंग के कारण समस्त देश में एक नवीन जागृति हो चुकी थी। पंजाब भी इस चेतना से वंचित नहीं था। पंजाब में भी इधर-उधर कुछ असाधारण घटनाएं होने लगीं। लाला जी ने इस जागृति में उत्साह पूर्वक भाग लिया। परिणाम यह हुआ कि आप सरकार की नजरों में खटकने लगे और मई १६०७ में पंजाब-सरकार द्वारा गिरफ्तार करके मांडले (बर्मा) जेल में नजरबंद कर दिया गया। किन्तु ६ महीने पश्चात् ही आपको मुक्त कर दिया गया।

जब आप जेल से बाहर आये, उस समय कांग्रेस में नरम और गरम दो दल उत्पन्न हो चुके थे। आपको बोदी नीति प्रिय नहीं थी, इसलिए आपका गरम दल में होना स्वाभाविक भी था। इस समय लाल बाल पाल के नाम से गरम दल के तीन नेता बड़े प्रसिद्ध थे। इनमें लाला जी, लोकमान्य तथा विपिन चन्द्र थे। १६०७ में सूरत-कांग्रेस में दोनों दलों का खूब संघर्ष चला। गरम दल वाले लाला जी को सभापति बनाना चाहते थे। आपने दोनों दलों में समझौता कराने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु असफल रहे। अन्त में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में गरम दल कांग्रेस से अलग हो गया।

१६२० में गांधी जी के असहयोग अन्दोलन पर विचार करने के लिए कलकता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ जिसका सभापति आपको बनाया गया। उग्रवादी होने के कारण असहयोग एवं सत्याग्रह में आपका विश्वास न था; फिर भी जब नागपुर-कांग्रेस में असहयोग का प्रस्ताव स्वीकृत होगया तो आपने भी पूरी श्रद्धा से उसमें भाग लिया। गांधी जी के असहयोग-आन्दोलन में आप पीछे नहीं रहे। स्कूल और कालिजों के बहिष्कार के समय आपने पंजाब में चमत्कारपूर्ण कार्य कर दिखाया। देखते-ही-देखते पंजाब के सरकारी स्कूल और कालिज छात्रों से खाली होगए। साथ ही युवकों को राष्ट्रीय शिक्षा देने के उद्देश्य से आपने लाहौर में स्वतंत्र कालिज खोला। इन हलचलों के परिणाम स्वरूप सरकार ने आपको गिफ्तार कर लिया; किन्तु कुछ समय बाद ही छोड़ दिये गए। रिहा होते ही आप पूर्ववत् पुनः अपने कार्य में जुट गए और १६२२ में पुनः गिरफ्तार करके २ वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया। जेल में आप रुग्ण हो गए और आपका स्वास्थ्य दिन-प्रति-दिन गिरने लगा। अन्त में अधिक स्वास्थ्य बिगड़ने पर १६२३ में आपको छोड़ दिया गया।

१६२३ के अन्त में लाला जी कांग्रेस-स्वराज्य-पार्टी में सम्मिलित होगये। आपको लेजस्लेटिव असेम्बली का सदस्य चुना गया। किन्तु

सन् १९२५ के वाक आउट के सिद्धान्त पर स्वराज्य-पार्टी से आपका मतभेद होगया और आप स्वराज्य-पार्टी से निकल कर आये तथा प० मदनमोहन मालवीय के साथ मिलकर *नेशनलिस्ट* पार्टी की स्थापना की। इस पार्टीबन्दी के कारण राजनीतिक जगत् में आपकी लोकप्रियता घटने लगी; किन्तु आपने इसकी परवाह नहीं की। *नेशनलिस्ट* पार्टी के नाम से आपने पंजाब में दो जगह चुनाव लड़े और सफलता भी प्राप्त की।

ला० लाजपतराय एक धर्म परायण व्यक्ति थे। उनके हृदय में हिन्दुत्व की बड़ी प्रबल भावना थी। हिन्दू जाति की उन्नति एवं सुधारों के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया। १९०९ में उन्होंने पंजाब में हिन्दू महासभा की स्थापना की। १९२३ में शुद्धि और संगठन आदि आन्दोलनों में आपने पूरी योग दिया। १९२५ में हिन्दू महासभा के कलकत्ता-अधिवेशन के आप सभापति थे। १९२८ में आपको इटावा में होने वाली हिन्दू कांफ्रेंस का अध्यक्ष चुना गया। इतना होने पर भी आपके हृदय में संकीर्ण साम्प्रदायिकता की गंध तक न थी। आपने सदैव पृथक् निर्वाचनों का विरोध किया।

लाला लाजपतराय राजनीतिक नेता ही नहीं थे, वरन् एक अच्छे शिक्षा-शास्त्री तथा समाज सुधारक भी थे। दलितोद्धार के लिए भी उन्होंने बड़ा ठोस कार्य किया। अछूतोद्धार के लिए किया गया उनका परिश्रम भी सराहनीय है। १९२० में उन्होंने *सर्वेण्ट्स पीपुल सोसाइटी* की स्थापना की, जो आज तक दलितोद्धार का कार्य करती रही है। इसके अतिरिक्त अनाथ बच्चों और बीमार स्त्रियों के लिए आपने अस्पताल खोले और अपनी समस्त कमाई इन्हीं लोकोपकारी कार्यों में व्यय कर दी।

सन् १९२८ के आरम्भ में शासन-सुधार की माँगों के सम्बन्ध में भारतवर्ष की अवस्था की जाँच करने के लिए साइमन-कमीशन भारत में आया, तो देश ने एक स्वर से उसका बहिष्कार किया। जगह-जगह

पर उसके विरुद्ध प्रदर्शन किये गए और पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर खूब लाठियाँ बरसाईं। ३० अक्तूबर १९२८ को साइमन-कमीशन लाहौर पहुँचा। लाहौर में इसके विरोध-प्रदर्शन के लिए जुलूस निकाला गया। जुलूस का नेतृत्व कर रहे थे पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय। जब जुलूस स्टेशन पर पहुँचा, जहाँ पर कि वह कमीशन उतरने वाला था, तो पुलिस ने अन्धाधुन्ध जुलूस पर लाठियाँ बरसानी प्रारम्भ कर दीं। लाला जी की छाती पर भी लाठियाँ पड़ने लगीं, किन्तु वे अपने स्थान से तनिक भी विचलित नहीं हुए और अपनी छाती फुलाए चट्टान की भाँति अडिग खड़े रहे। यह देखकर जनता विक्षुब्ध हो उठी। उसी समय रायजादा हंसराज ने आगे बढ़कर लाठियों का प्रहार अपने ऊपर लेना प्रारम्भ कर दिया। लाला जी को बहुत चोट लगी।

उसी सन्ध्या को लाहौर में एक विराट-सभा हुई। लाला जी ने उस सभा में भाषण देते हुए कहा था—*मेरी छाती पर किया गया लाठी का एक-एक प्रहार ब्रिटिश सरकार के कफ़न की कील बनेगा।* इस घटना के ठीक १७ दिन बाद १७ नवम्बर को प्रातःकाल लाला जी का देहावसान होगया। उनकी मृत्यु के सम्वाद से समस्त देश में शोक तथा विक्षोभ की लहर दौड़ गई।

लाला लाजपतराय भारत की एक अनुपम विभूति थे। वे पंजाबी प्रकृति के प्रतीक थे। आज भी पंजाब क्या, समस्त भारत गर्व के साथ उनके नाम का स्मरण करता है।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में जो स्थान महात्मा गान्धी एवं प० जवाहरलाल नेहरू का है, वही स्थान भारत के राष्ट्रीय क्षितिज के देदीप्यमान नक्षत्र नेता जी सुभाषचन्द्र बोस का है। उस वीर पुरुष के आत्मोत्सर्ग की वह कहानी है, जो मृत शरीरों में भी संजीवनी शक्ति का संचार कर देती है। उसने अपने दृढ़ संकल्प, अजेय साहस, स्वार्थ-शून्यता, अपूर्व त्याग एवं अतुल शौर्य द्वारा अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए, उससे दूर—बहुत दूर—विदेश में, बिना किसी साधन और सहायता के एक विशाल संगठन करके संसार में कर्मवीरों के लिए एक आदर्श उपस्थित कर दिया। उसके बलिदान का इतिहास आज उसके देश के नाम को संसार के कोने-कोने में ज्योतित कर रहा है। उसमें कोई ऐसी महत्ता, करामात, जादू अथवा आकर्षण भरा था कि आने वाली पीढ़ियाँ उसे पुरातन और नूतन काल के अनेक वीर पुरुषों के समान एक दिव्य और महान् मानव मानेंगी। वह आज मरकर भी अमर है।

नेता जी का जन्म २६ जनवरी १८९७ ई० को कटक में हुआ था। उनके पिता कटक में सरकारी वकील थे। उनकी माता अब्राहम लिंकन, स्काट और रस्किन की माताओं के समान गुणवती और कर्त्तव्य-परायणा थीं। माता के प्रारम्भिक प्रयत्नों से ही सुभाष बाबू उस पावन चरित्र के धनी बन सके, जो उनके भाग्योदय में विशेष सहायक सिद्ध हुआ।

समृद्धिशाली पिता ने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध

किया। पाँच वर्ष की अवस्था में वे कटक के *प्रोटेस्टेंट यूरोपीय स्कूल* में प्रविष्ट हुए। वहाँ के अंग्रेज सहपाठियों के बर्ताव से उन्हें प्रथम बार यह पता लगा कि ये शासक वर्ग के हैं और मैं शासित वर्ग का। १६१३ ई० में उन्होंने *रेवनशा कालिजिएट स्कूल* से उन्होंने प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा पास करके छात्रवृत्ति प्राप्त की। वे पढ़ाई-लिखाई में जितनी रुचि रखते थे उतनी ही सांसारिक बातों में भी। उन्होंने सामान्य ज्ञान तथा पश्चिमी विचारों और संस्कृति पर अनेक ग्रन्थ पढ़े। शारीरिक शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं की, जिससे उनका शरीर पर्याप्त पुष्ट बन गया और भविष्य में आने वाले संकटों का सामना करने में समर्थ हो सका। वे अपनी माता से धार्मिक विषयों पर चर्चा किया करते थे। स्वामी विवेकानन्द के आध्यात्मिक विचारों पर उनकी श्रद्धा हो गई थी। विद्यार्थी-जीवन में ही उनमें सेवा और त्याग के भाव उत्पन्न हो चुके थे और वे उन दिनों भी रोगियों, दुखियों और आर्त्तों की सेवा में सुख अनुभव करने लगे थे।

१६१३ में वे प्रेसिडेन्सी कालिज कलकता में प्रविष्ट हुए। वहाँ मज़दूरों के नेता डा० सुरेशचन्द्र बनर्जी तथा अन्य उत्साही व्यक्तियों से उनका सम्पर्क हो गया। उनके प्रभाव से सुभाष बाबू को आमोद-प्रमोद से घृणा हो गई और उन्होंने मातृ-भूमि की स्वतंत्रता पूर्वक सेवा करने के लिए जीवन-भर ब्रह्मचारी रहने का व्रत धारण कर लिया। एक वर्ष बाद उन्हें संन्यास लेने की जो धुन समाई, तो तुरन्त ही संन्यासी बनकर हिमालय की उपत्यका में समाधि जा लगाई। जब उन्हें वहाँ भी शान्ति व आनन्द न मिला तो वह अत्यन्त निबल होकर घर लौट आये। उन दिनों अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा था—*मैं प्रतिदिन अनुभव कर रहा हूँ कि जीवन में मेरा कोई विशेष उद्देश्य है और उसी के लिए मुझे यह शरीर मिला है। मैं लोकमत के प्रवाह में बहने वाला नहीं।* कितनी उच्च भावनाएं हैं यह। इससे ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से ही उनका आत्मा किसी महान कार्य करने के

लिए अत्यंत उद्विग्नता पूर्वक छटपटा रहा था।

पुनः आपका अध्ययन प्रारम्भ हो गया। १६१५ में आपने प्रेसिडेन्सी कालिज से एफ० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसके पश्चात् १६१६ में स्काटिश चर्च कालिज से बी० ए० पास किया। इसमें भी आप प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। तदनन्तर आप १६१६ में इण्डियन सिविल सर्विस की प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए विलायत गये। वहाँ आपने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से भी बी० ए० पास किया।

सुभाष के पिता चाहते थे कि वह आई० सी० एस० की परीक्षा पास करके कोई उच्च सरकारी पद प्राप्त करें; किन्तु सुभाष की आत्मा तो किसी महान् कार्य के लिए उत्सुक थी। पिता के कहने से वे आई० सी० एस० की परीक्षा की तैयारी करने लगे। सुभाष विलायत में थे, किन्तु उनका अन्तरात्मा अपने देश में होने वाली राजनीतिक घटनाओं में पड़ा था। अतः उन्होंने अन्तरात्मा की आवाज का स्वागत करते हुए १६२१ में अपना त्याग-पत्र दे दिया और चल दिये देश के स्वाधीनता-संग्राम के सैनिक बनकर।

सुभाष बाबू जब स्वदेश लौटे तो देश में घोर अशान्ति फैल रही थी। एक ओर रौलट-एक्ट के विरोध में गान्धी जी का सत्याग्रह चल रहा था तो दूसरी ओर सरकार का दमन-चक्र। आपने एक दृष्टि से सब-कुछ देखा और देशबन्धु की सेना में स्वयंसेवक बन गए। बाद में राष्ट्रीय विद्यापीठ के आचार्य एवं कांग्रेस-स्वयं-सेवक-दल के कप्तान बनाये गए। प्रिंस आफ वेल्स के स्वागत के बहिष्कार के सम्बन्ध में आपको प्रथम बार ६ मास की हुई थी।

सुभाष बाबू अब पूर्ण रूप से राजनीतिक क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके थे। १६२२ में बंगाल में जब भयानक बाढ़ आई, तो आपने बाढ़-पीड़ितों की सराहनीय सहायता की। इसके पश्चात् आप गया-कांग्रेस में भी सम्मिलित हुए। बाद में आप स्वराज्य-पार्टी के दैनिक पत्र *फारवर्ड* के

सम्पादक बनाये गए। १६२४ में जब देशबन्धु कलकत्ता के मेयर बने तो आपको *चीफ एग्जीक्यूटिव अफ़सर* बनाया गया। किन्तु उसी वर्ष सरकार ने आपको बंगाल-अर्डिनेन्स के अन्तर्गत गिरफ्तार करके जेल भेज दिया। तीन वर्ष तक आपको जेल में रखा गया। इस बीच में आपका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। अन्त में जब अवस्था अधिक बिगड़ती दिखाई दी तो सरकार ने १५ मई १६२७ को आप रिहा कर दिये।

जब आप जेल में थे, तभी आपको बंगाल-प्रान्तीय धारा-सभा का सदस्य चुन लिया गया था। सन् १६२८ की कलकत्ता-कांग्रेस में पं० मोतीलाल नेहरू के जुलूस में चलने वाले स्वयं-सेवक-दल के आप सेनानी थे। इस बीच आप देश के बड़े-बड़े नेताओं के निकट सम्पर्क में आ चुके थे। कलकत्ता-कांग्रेस में महात्मा गान्धी ने औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव पेश किया, जिसमें पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा *पूर्ण स्वराज्य* का संशोधन किया गया। सुभाष बाबू ने पं० नेहरू के संशोधन का जोरदार समर्थन किया। बाद में पं० नेहरू द्वारा बनाई गई *इण्डिपेंडेंस लीग* के प्रचार में भी आपने पं० नेहरू को यथेष्ट सहयोग दिया था।

दिसम्बर १६२६ में लाहौर-कांग्रेस में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। २६ जनवरी को देश-भर में स्वतन्त्रता-दिवस मनाया गया। जगह-जगह पर जलसे किये गए और स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा दोहराई गई। सुभाष बाबू के नेतृत्व में कलकत्ता में भी जुलूस निकाला गया। पुलिस ने सब जगह की भाँति वहाँ भी जुलूस पर लाठियाँ बरसाईं। सुभाष बाबू और उनके साथी क़ैद कर लिये गए। सुभाष बाबू को १ वर्ष की सजा हुई। जेल में उन्हें नाना-प्रकार की यातनाएं दी गईं। परिणाम यह हुआ कि आप पुनः बीमार हो गए। बीमारी की अवस्था में भी आपको कई बार मार खानी पड़ी; किन्तु सरकार आपको छोड़ना नहीं चाहती थी। तब समस्त देश में सनसनी फैलने

लगी, तो सरकार ने इस शर्त पर आपको छोड़ना स्वीकार किया कि रिहा होते ही आप भारत में न रहकर यूरोप चले जायंगे। आपने इसे स्वीकार कर लिया और रिहा होते ही वायुयान द्वारा स्विटज़रलैण्ड चले गए।

अपने विदेश-प्रवास-काल में भी सुभाष बाबू चुप-चाप नहीं बैठे। वहाँ आप डी० वेलरा, मुसोलिनी प्रभृति व्यक्तियों से मिले। फ्रान्स और लन्दन भी गए। किन्तु वहाँ रहते-रहते आपका मन ऊब गया। स्वदेश आने पर पुनः गिरफ्तार कर लिये गए। इससे देश में विक्षोभ की ज्वाला धधक उठी; किन्तु सरकार इससे विचलित न हुई। उधर जेल में पुनः सुभाष बाबू की दशा बिगड़ गई। अन्त में १७ मार्च १६२६ को सरकार ने आपको रिहा कर दिया। स्वास्थ्य-लाभ के लिए आपको पुनः विदेश जाना पड़ा। यूरोप में आपने भारतीय स्वाधीनता का घोर प्रचार किया और साथ ही ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति का भी भंडाफोड़ किया। अन्त में जब वे हरिपुरा-कांग्रेस के लिए प्रधान चुने गए, तब १६३८ में भारत लौटे। कराची में उनका अपूर्व स्वागत किया गया।

'१३ फरवरी १६३८ को हरिपुरा में कांग्रेस का महत्त्वपूर्ण अधिवेशन हुआ। सुभाष बाबू ने अपने राष्ट्रपति-पद से भाषण देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर प्रशंसनीय प्रकाश डाला और साथ ही अपना नवीन दृष्टिकोण भी उपस्थित किया संघ-शासन के प्रश्न पर कांग्रेस में तीव्र मतभेद प्रकट होने लगा। सुभाष बाबू संघ-शासन के पक्ष में न थे। मतभेद की खाई चौड़ी होती गई। सुभाष बाबू को नीचा दिखाने के प्रयत्न किये गए; किन्तु गान्धी जी के विरोध करने पर भी वे २०० से भी अधिक मतों से आगामी वर्ष के लिए प्रधान चुने गए।'

पुनः प्रधान निर्वाचित हो जाने पश्चात् भी दक्षिण-पक्षी कांग्रेसियों ने सुभाष बाबू से खुलकर असहयोग किया। सुभाष बाबू को इससे मर्मान्तक आघात पहुँचा। यह उनका घोर अपमान था। अन्त में जब

समझौते की कोई सूरत न दिखाई दी तो उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। उनके स्थान पर बाबू राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति बनाये गए।

कांग्रेस से पृथक् होकर सुभाष बाबू ने कांग्रेस के साहसी अंश को प्रबल बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया। इस प्रकार फारवर्ड ब्लाक अथवा अग्रगामी दल का जन्म हुआ। स्थिति यहाँ तक बिगड़ी कि कांग्रेस की ओर से बंगाल-प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी अस्वीकृत कर दी गई। सुभाष के भाई शरच्चन्द्र बोस कांग्रेस से निकाल दिये गए। इधर बंगाल ने भी कांग्रेस हाई कमांड के प्रति खुल्लम-खुल्ला विद्रोह कर दिया। इधर सुभाष बाबू ने बंगाली जनता को संगठित करके हालवेल स्मारक (काली कोठरी) को हटा देने के लिए समूहिक आन्दोलन करने का आदेश दिया। सरकार इस उठने वाले तूफ़ान से भयभीत हो गई और सुभाष बाबू को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया। सुभाष बाबू ने जेल में अनशन प्रारम्भ कर दिया। अन्त में सरकार ने उन्हें एक मास के लिए छोड़ दिया। किन्तु उनके घर पर कठिन पहरा लगा दिया।

सुभाष बाबू के जीवन का वास्तविक कार्य तो अब आरम्भ होने वाला था। द्वितीय महायुद्ध जोबन पर था और जर्मनी की जीत हो रही थी। सुभाष बाबू ने इस समय विदेशी राष्ट्रों की सशस्त्र सहायता से देश को स्वतंत्र कराने का अच्छा अवसर समझा। इसके लिए उन्होंने सम्पूर्ण योजना जेल में ही बना ली थी। २६ जनवरी १९४१ को समस्त देश यह समाचार सुनकर चकित रह गया कि सुभाष बाबू पुलिस की आंखों में धूल झोंककर घर से लुप्त हो गए हैं। बाद में यह रहस्य खुला कि वे दाढ़ी बढ़ाकर, मौलवियों का भेस बनाकर चालीस मील तक मोटर पर गए, फिर रेल द्वारा पेशावर होते हुए काबुल जा पहुँचे। रूस के कारण उन्हें जर्मनी जाने का पासपोर्ट नहीं मिल सका। अन्त में एक जर्मन व्यक्ति के पासपोर्ट का उपयोग करके वे वायुयान द्वारा जर्मनी पहुँचने में सफल हो गए।

बर्लिन पहुँचने पर हिटलर ने आपका स्वागत किया और *भारतीय फ्यूहरर* और *एक्सलैंसी* की उपाधि से सम्मानित किया। वहाँ आपने जेरूसलम के ग्रांड मुफ्ती से भी सम्पर्क बढ़ाया। मुसोलिनी से भी भेंट हुई और बर्लिन तथा रोम के रेडियो से आपके व्याख्यान ब्राडकास्ट होने लगे।

उधर सुदूरपूर्व की स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो रहे थे। सिंगापुर पर जापानियों का अधिकार हो चुका था। अंग्रेज मलाया और वहाँ के भारतीयों को अपने भाग्य पर छोड़कर भाग गए। टोकियो में रासबिहारी बोस के नेतृत्व में 'भारतीय स्वतंत्रता लीग' की स्थापना हुई। कप्तान मोहनसिंह के अधीन आज़ाद हिन्द फौज तैयार करने का आयोजन किया गया। जापानी सरकार ने लीग को सहायता देने का वचन दिया। जून १६४३ में सुभाष बाबू बर्लिन से टोकियो आ गए थे। रासबिहारी बोस ने उन्हें सविधि आज़ाद हिन्द सेना का सेनापति बना दिया। इसके पश्चात् सुभाष बाबू की आश्चर्यजनक संगठन-शक्ति का परिचय पाकर समस्त संसार दंग रह गया।

सुभाष बाबू को अब कार्य करने के लिए उपयुक्त क्षेत्र मिल गया। उन्होंने तुरन्त *आज़ाद हिन्द सरकार* की स्थापना की। आज़ाद हिन्द सरकार के कार्य को १६ विभागों में बाँटा गया। जापान, जर्मनी, इटली, चीन आदि ६ विभिन्न सरकारों ने आज़ाद हिन्द सरकार की स्वतंत्र सत्ता को एक मत से स्वीकार कर लिया था। पहले सिंगापुर, बाद में रंगून को अस्थायी सरकार की राजधानी और प्रधान कार्यालय बनाया गया। नेताजी ने स्वयं घूम-घूमकर अपने भाषणों द्वारा द्रव्य एकत्र करके *आज़ाद हिन्द बैंक* स्थापित किया। इस प्रकार अनुशासन एवं व्यवस्थापूर्ण ढंग से आजाद हिन्द सरकार का कार्य चलने लगा।

उन्होंने आज़ाद हिन्द सेना का भी सुव्यवस्थित संगठन किया। समस्त सेना को चार ब्रिगेडों—*सुभाष ब्रिगेड, गांधी ब्रिगेड,* नेहरू

ब्रिगेड और आज़ाद ब्रिगेड—में बाँटा। उसमें सभी धर्मों और जातियों के लोग भरती किये गए। अफसरों की शिक्षा के लिए स्कूल खोले गए। जापान-सरकार से कुछ शस्त्रास्त्र भी खरीदे गए। लक्ष्मी-बाई की अध्यक्षता में महिलाओं की पृथक् रेजीमेंट बनाई गई, जिसका नाम '*झांसी की रानी रेजीमेंट*' रखा गया। बाल-सेना का भी अलग दस्ता बनाया गया। '*जय हिन्द*' और '*चलो दिल्ली*' के राष्ट्रीय गीतों पर सेना का मार्च होने लगा। आपका यह सैनिक संगठन और कार्यक्रम बड़े-बड़े युद्ध-विशारदों को भी विस्मय में डालने वाला था।

१८ मार्च १९४४ का वह दिन भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा, जब आज़ाद हिन्द की सेनाएं साहस और वीरतापूर्वक कोहिमा और मणिपुर के युद्ध में कूद पड़ी थीं। दूसरे ही दिन इम्फाल में राष्ट्रीय झंडा गाड़ दिया गया था। स्वतंत्रता के इन वीर सैनिकों ने निरन्तर दो मास तक घास खा-खाकर और भूखों मर-मरकर अंग्रेज़ी सेनाओं का जी तोड़कर मुक़ाबला किया था। कई बार अंग्रेज़ी सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। परन्तु साधनों और वायुसेना के अभाव ने आज़ाद हिन्द की सेनाओं को पीछे हटने के लिए विवश कर दिया। इस बीच जापान ने हथियार डाल दिये और जब अंग्रेज़ों ने सिंगापुर को ले लिया तब तो सब-कुछ चौपट हो गया। आज़ाद हिन्द सेना के कुछ सैनिक मारे गए तथा कुछ पकड़े गए। नेता जी वायुयान द्वारा टोकियो के लिए रवाना हो गए। किन्तु २३ अगस्त १९४५ को टोकियो से यह समाचार आया कि नेता जी सुभाष बोस १२ अगस्त को वायुयान-दुर्घटना में बुरी तरह घायल हो गए और उसी रात को उनका शरीरान्त हो गया। यह सुनकर दुनिया अवाक् रह गई, किन्तु कतिपय लोगों का अब भी यह विश्वास है कि वे मरे नहीं हैं, वरन् कहीं पर छिपे हुए हैं और उचित समय आने पर प्रगट होंगे। उनकी कीर्ति चिर युगों तक जीवित रहेगी और उनका कार्य भारत के युवकों को सदैव प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

पाँच

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

घोर कर्मठता अदम्य साहस, बिजली-जैसी स्फूर्ति, सिद्धान्त-शूरता, अतुल भावुकता, महान् त्याग, अपूर्व कर्मशीलता, अद्वितीय निर्भीकता, चट्टान-जैसी दृढ़ता और अत्यन्त विनोद-प्रियता इन समस्त गुणों का एकत्र-सामंजस्य यदि कहीं देखना है, तो वह आज के स्वाधीन भारत के प्रथम महामात्य पं० जवाहरलाल नेहरू में ही देखने को मिलेगा। तरुण जवाहर में जहाँ बुद्ध, महावीर, और अशोक का राजसी ऐश्वर्य है, वहाँ दयानंद तथा महात्मा गान्धी का संयम भी है। ऐश्वर्य और संयम के पावन संगम पर खड़े होकर इस तरुण नर-वीर ने जो उग्र तपश्चर्या की, उसने भारत के जीर्ण कंकाल में जीवन डाल दिया और उसके अचेतन शरीर में चेतना की लहर दौड़ा दी। इसने अपने जीवन के २६ वर्ष जेलों के निगड़ बंधनों में—यातनाओं और क्लेशों में—बिताकर भारत को दासता की अटूट शृंखला से मुक्ति दिलाई और अपने सतत अध्यवसाय तथा निरंतर तपश्चरण से स्वतंत्र भारत का प्रथम महामात्य बनकर देशवासियों को—विशेषतः आशावादी युवकों को—ऊँचे मनुष्यत्व का वह आदर्श दिखाया, जो संसार के इतिहास में अद्वितीय है।

पं० जवाहरलाल नेहरू एक क्रियाशील, आशावादी और साहसी मानव हैं। सिद्धान्त से बुद्धिवादी होते हुए स्वभाव से भावुक हैं। साथ ही गम्भीर भी सागर के समान—अन्दर उठते तूफानों का उनके चेहरे से कुछ पता नहीं लग सकता। कठिनतम परिस्थितियों में भी वे विचलित नहीं होते। वे गर्मी और प्रकाश दोनों ही देते हैं। उनमें

मानवता को अधिक अच्छी स्थिति में पहुँचाने के लिए एक व्याकुलता और एक आग है। वह आग, जो हृदय-पटल को स्पर्श करके उसे भी आग बना देती है। इसके साथ उनका अनोखा व्यक्तित्व संक्रामक है। आज भी उनमें वही जोवन की आशावादिता, वही जीवन का लोभ है। वृद्ध होने पर भी वह तरुणों के सम्राट् हैं—वे जो कुछ भी हैं, अपने ढंग के एक ही हैं।

पं० जवाहरलाल का जन्म प्रयाग के एक ऐसे काश्मीरी परिवार में १६ नवम्बर १८८६ को हुआ, जो उनके पिता के समय, ऐश्वर्य और प्रभाव की दृष्टि से सबसे ऊँचा माना जाता था। उनके पिता स्व० पं० मोतीलाल नेहरू कानून के गम्भीर ज्ञान और अनुपम तर्कशक्ति के कारण भारत-भर में प्रसिद्ध थे और अपनी योग्यता से खूब धन कमाकर राजों—महाराजों के समान विलासमय जीवन व्यतीत करते थे।

जवाहरलाल का पालन-पोषण सुख और आडम्बर-पूर्ण परिस्थिति में हुआ। ६ वर्ष से १२ वर्ष तक घर पर ही शिक्षा प्राप्त की। मई १६०५ में नेहरू-परिवार इंग्लैण्ड चला गया। वहाँ जवाहरलाल इंग्लैंड के *हैरो कालिज* में प्रविष्ट होगए। अध्ययन के लिए वहाँ का वातावरण उनके बिलकुल अनुकूल था। १६०७ में उन्होंने *कैम्ब्रिज विश्व विद्यालय* के ट्रिनिटी कालिज में प्रवेश किया। वहाँ से जन्तु-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान एवं रसायन-शास्त्र में बी० ए० पास किया। आपकी असाधारण प्रतिभा से सन्तुष्ट होकर कालिज के अधिकारियों ने आपको बिना परीक्षा लिये ही एम० ए० की उपाधि दे दी। कालिज की शिक्षा समाप्त करके आप *इनर-टेम्पुल* में भरती हुए और १६११ में बैरस्टरी पास करके भारत लौट आये।

भारत आकर उन्होंने इलाहाबाद में वकालत आरम्भ कर दी। परन्तु उन्हें अपनी जीवन-चर्या अंग्रेजी आमोद-प्रमोदों से शून्य होने के कारण नीरस प्रतीत होने लगी और उनका जी उससे बिलकुल ऊब

गया। तब सहसा उनके हृदय में भारी परिवर्तन हुआ और उन्होंने जी-जान से उसको कांग्रेस के कार्यों में लीन कर दिया। १९१२ में वे बाँकीपुर में कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। वहाँ गोखले के व्यक्तित्व का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा। १९१६ में दिल्ली में एक पं० जवाहरलाल कौल की सुपुत्री कमला देवी से आपका विवाह हो गया। १९१७ में पुत्री इन्दिरा का जन्म हुआ। १९२२ में एक पुत्र भी हुआ, परन्तु वह जीवित न रहा।

सन् १९२० तक जवाहरलाल जैसे-तैसे वकालत का कार्य करते रहे। किन्तु उनकी महान् आत्मा तो किसी विशेष कार्य के लिए छटपटा रही थी। अतः आप वकालत छोड़कर राजनीतिक क्षेत्र में कूद पड़े। गोखले की अपील पर पचास हजार का चन्दा एकत्र करके प्रवासियों की सहायता के लिए अफ्रीका भिजवाया। डा० एनी बेसेण्ट और तिलक की *होमरूल लीग* में भी आपने खूब कार्य किया। तत्पश्चात् अवध के किसानों में भ्रमण करके उनकी सराहनीय सेवा की।

१९२० में गांधी जी ने विदेशी-बहिष्कार और खिलाफत-आन्दोलन प्रारम्भ किया। जवाहरलाल ने उसमें खुलकर भाग लिया। १९२१ में उन्हें छः मास की और १९२२ में अठारह मास की कैद हुई। १९२२ में ही उन्हें प्रयाग म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष चुना गया। इसी बीच नाभा राज्य में सिखों पर अत्याचार किया गया, जिससे द्रवित होकर जवाहरलाल नाभा गए, किन्तु गिरफ्तार कर लिये गए। कुछ दिनों वहाँ की हवालात में रहकर उन्होंने देशी रियासतों के शासन एवं न्याय-व्यवस्था का निकट से अध्ययन किया।

१९२६ में उनकी पत्नी कमला बीमार होगई जिसे लेकर वे स्विटजरलैण्ड गये। कमला के कुछ स्वस्थ होने पर उन्होंने योरुप की राजनीतिक गति-विधि में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९२७ में वे जिनेवा में साम्राज्य-विरोधी-संघ के अधिवेशन में भारतीय राष्ट्र-सभा के

प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। उसी वर्ष वे सोवियत्-संघ के दसवें वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने सपरिवार मास्को गये। कुछ दिन मास्को रहकर उन्होंने साम्यवादी विचार-धाराओं का गम्भीर अध्ययन किया। इसी यूरोप-प्रवास में अन्य देशों की राजनीतिक विचार-धाराओं का सूक्ष्म अध्ययन करने का उन्हें अवसर मिला।

जब वे अपनी यूरोप-यात्रा से लौटकर भारत आये तो उस समय देश एक विशाल संघर्ष के लिए तैयार हो रहा था। उन्हीं दिनों कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, किन्तु उसमें महात्मा गान्धी के व्यक्तित्व के कारण पूर्ण-स्वराज्य का प्रस्ताव पास न हो सका। इससे असन्तुष्ट होकर पं० नेहरू ने स्वाधीनता-संघ (इण्डिपेण्डेंस लीग) की स्थापना की, जिसका लक्ष्य पूर्ण-स्वाधीनता प्राप्त करना था।

१६२६ में आपको लाहौर-कांग्रेस का सभापति बनाया गया। लाहौर-कांग्रेस पं० नेहरू के जीवन की एक महत्त्व-पूर्ण स्मृति है। देश ने पिता के बाद पुत्र को राष्ट्रपति के पद से सम्मानित किया। लाहौर-कांग्रेस में *पूर्ण स्वाधीनता* का प्रस्ताव पास हो गया और २६ जनवरी को देश-भर में 'स्वाधीनता दिवस' मनाया गया। रावी के तट पर स्वाधीनता-प्राप्ति की शपथ ली गई। समस्त देश एक विशाल संघर्ष के लिए प्रस्तुत हो गया। संघर्ष की रूपरेखा गान्धी जी ने प्रस्तुत की। १६३० का तूफानी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। कानून तोड़े गए और जेलें भर दी गई। पं० नेहरू को भी एक साल तक जेल में रहना पड़ा। समझौते की बातचीत चलने पर सरकार ने उन्हें छोड़ दिया।

इसी समय साइमन-कमीशन भारत में आया। देश-भर में उसका बहिष्कार किया गया। पंजाब में ला० लाजपतराय पर लाठी-चार्ज हुआ और लखनऊ में पं० जवाहरलाल पर। जीवन में पहली बार ही पंडित जी ने मार का अनुभव किया था। इन संघर्षों में समझौते के प्रयत्न भी चलते रहते थे, किन्तु परिणाम कुछ न निकलता था।

पं० नेहरू का कार्य अब आन्दोलन करना और जेल जाना ही बन गया था। जेल से बाहर निकलते ही वे पुनः किसानों में कर-बन्दी-आन्दोलन की ज्योति फूँक जाते और पुनः जेल चले जाते।

इसी बीच पं० मोतीलाल बीमार हो गए। जवाहरलाल और उनके बहनोई रणजीत पंडित को छोड़ दिया गया। किन्तु पं० मोतीलाल की दशा में कोई सुधार न हुआ और अन्त में उनका देहान्त हो गया। पं० जवाहरलाल को पिता की मृत्यु से एक भीषण मानसिक आघात पहुँचा, परन्तु गान्धी जी के सहयोग और सहानुभूति से उन्हें विशेष सान्त्वना प्राप्त हुई।

१६३१ में जब गान्धी जी गोल मेज परिषद् से भारत लौटे तो उन्हें बम्बई आते ही गिरफ्तार कर लिया गया। पं० जवाहरलाल गान्धी जी से मिलने बम्बई जा रहे थे, उन्हें रेल में ही गिरफ्तार कर लिया गया। अन्य नेता भी पकड़ लिये गए। पं० नेहरू को प्रायः नैनी जेल में रखा जाता था। अब की बार उन्हें देहरादून जेल में लाया गया। २ वर्ष कैद में रहने के पश्चात् उन्हें मुक्त किया गया, परन्तु कुछ ही महीनों के बाद पुनः बन्दी बना लिया गया। उन्हीं दिनों उन्होंने देहरादून जेल में अपनी आत्म-कथा *मेरी कहानी* और *विश्व इतिहास की झलक* लिखकर साहित्य को सराहनीय सेवा की। इसी बीच में उनकी पत्नी का स्वास्थ्य इतना अधिक बिगड़ गया कि सरकार ने जवाहरलाल को छोड़ दिया, परन्तु ११ दिन बाद पुनः पकड़ लिया गया। जब कमला का स्वास्थ्य न सुधरा तो उन्हें इलाज के लिए जर्मनी ले जाया गया। जवाहरलाल को भी प्रिय पत्नी के पास पहुँचने के लिए मुक्त कर दिया गया। २६ फरवरी १६२६ को अपने पति तथा देश को शोकमग्न करती हुई कमला स्वर्ग सिधारीं। जवाहरलाल लाचार होकर स्वदेश लौट आये और कृतज्ञ राष्ट्र ने उन्हें लखनऊ-कांग्रेस का प्रधान बनाया। अगले वर्ष फ़ैजपुर-कांग्रेस के प्रधान भी वही निर्वाचित किये गए।

१९३८ में योरुप में द्वितीय महायुद्ध का बीजारोपण हो गया। उस समय जवाहरलाल वहीं पर थे। उन्होंने यूरोप के प्रजातंत्र-अधिकारियों को भारत का संदेश दिया। २० जून को पेरिस-रेडियो से एक प्रभावशाली भाषण ब्राडकास्ट किया, जिससे सारे संसार में शोर मच गया। इसके बाद आप इंग्लैंड गए और वहाँ अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों से मिलकर उनमें भारत के प्रति सहानुभूति उत्पन्न की। अनेक सभाओं में व्याख्यान देकर विदेशियों को भारत की समस्या से अवगत किया। नवम्बर १९३८ में आप भारत लौट आए।

भारत लौटकर आपने राष्ट्र-निर्माण-समिति की स्थापना का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मंडल कार्य कर रहे थे, तथापि कांग्रेस के सामने समस्त राष्ट्र के संगठन की कोई वैधानिक योजना नहीं थी। इसी उद्देश्य से आपने उक्त समिति का निर्माण किया था। इस समिति की २९ उपसमितियां बनाई गईं। धीरे-धीरे समिति का कार्य बढ़ता गया और उसमें राष्ट्र-निर्माण के प्रत्येक पहलू का समावेश हो गया। राष्ट्र निर्माण के बहुमुखी कार्य में इस समिति ने बड़ी सहायता पहुँचाई है।

१९३९ में आपने लंका की यात्रा की और भारतीयों के प्रश्न को लेकर वहाँ जो कटु वातावरण उत्पन्न हो गया था, उसको दूर किया। अगस्त में आप विमान द्वारा चीन गये और चीन में राष्ट्रपति मार्शल च्यांग काई शेक एवं उनको पत्नी से निकट मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया। इसी बीच यूरोप में महायुद्ध प्रारम्भ होगया और आपको तुरन्त भारत लौट आना पड़ा।

क्रिप्स-योजना की विफलता के बाद सन् १९४२ में जब *भारत छोड़ो* प्रस्ताव पास हुआ तो अन्य नेताओं के साथ आपको भी गिरफ्तार कर लिया गया। १९४५ में *वेवल-योजना* के अनुसार अन्य नेताओं के साथ आपको भी रिहा किया गया। फिर *शिमला-सम्मेलन* और *कैबिनेट-मिशन* की बातचीत में आप बराबर भाग लेते रहे।

१९४५ में मौलाना आजाद के स्थान पर आपको पुनः राष्ट्रपति बनाया गया। इस समय अपने भाषणों में आग उगलते थे। आपने सबसे पहले अगस्त-आन्दोलन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।

इसके पश्चात् सन् '४६ में अन्तः कालीन सरकार की स्थापना हुई और आपको उसका अध्यक्ष बनाया गया। तत्पश्चात् स्वाधीन भारत-संघ के प्रथम प्रधान-मंत्री बनने का गौरव भी पं० जवाहरलाल नेहरू को ही प्राप्त हुआ। तब से अब तक आप अपने पद पर सराहनीय कार्य कर रहे हैं। भारत-सरकार के वैदेशिक-विभाग के मंत्री भी आप ही हैं। प्रथम एशियाई देशों का सम्मेलन बुलाकर आप समस्त एशिया के नेता बन चुके हैं। इण्डोनेशिया के प्रश्न को सुलझाने के लिए आपकी अध्यक्षता में एक बार पुनः एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन हो चुका है। आज भी एशिया के समस्त दुर्बल और शोषित राष्ट्रों की दृष्टि भारत पर लगी हुई है। और आज के भारत के 'जवाहर' सब प्रकार की गुट्ट-बन्दी से अलग रहकर समग्र मानव जाति के लिए समानता के अधिकार प्राप्त कराने की चेष्टा कर रहे हैं।

छः

सरदार वल्लभभाई पटेल

उनके अतुल शौर्य, अपूर्व साहस और अद्भुत कार्य-शक्ति ने ही उन्हें एक योद्धा के आसन से उठाकर *सरदार* बनाया है। यदि गांधी *विष्णु* और जवाहर *ब्रह्मा* हैं, तो वल्लभभाई को अवश्य *शंकर* मानना पड़ेगा। जिनके तीसरे नेत्र के खुलते ही शत्रु भस्मसात् हो जाते हैं। सरदार वल्लभभाई पटेल उन व्यक्तियों में से हैं, जो कहते कम और करते अधिक हैं। आप एक सफल, साहसी और विजयी सेनानी हैं। स्वाधीन भारत की देशी रियासतों का एकीकरण करके आपने अपनी कार्य-चातुरी और संगठन-शक्ति का अद्भुत परिचय दिया है। आप आपत्तियों से स्वाभाविक प्रेम रखने वाले तथा परिस्थितियों पर विजय पाने वाले सरदार हैं। आप एक सफल राजनीतिज्ञ नहीं, हाँ, सफल सेनापति अवश्य हैं। युद्ध आपको प्रिय है—समझौते की बोदी चर्चा पसन्द नहीं। आप-जैसे दृढ़ साहसी नायक के हाथों में राष्ट्र का भविष्य सदा सुरक्षित है।

सरदार पटेल का जन्म ३१ अक्तूबर १८७२ में गुजरात के खेड़ा जिले के करमसद गाँव में हुआ। इनके पिता श्री झवेर भाई लवा जाति के साधारण स्थिति के जमींदार थे। उन्होंने सन १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में अंग्रेजों के विरुद्ध वीरता के प्रशंसनीय जौहर दिखाये थे। पिता के समान पुत्र ने भी ६० वर्ष पीछे भारत की स्वतंत्रता के लिए अपने प्राण हथेली पर रख लिये थे।

सरदार पटेल की प्रारम्भिक शिक्षा गांव में ही हुई। अपने विद्यार्थी जीवन में वे बड़े नटखट और अपने मित्रों के बने-बनाये

सरदार थे। कई बार अध्यापकों से भी आपका झगड़ा हो जाया करता था। माता-पिता उच्च शिक्षा दिलाने में असमर्थ थे, इसलिए सरदार ने मैट्रिक पास करने के पश्चात् मुख्तारी की परीक्षा उत्तीर्ण की और पहले गोधरा तथा उसके बाद बोरसद में मुख्तारी का कार्य आरम्भ कर दिया।

१६१३ में आपने लन्दन जाकर प्रथम श्रेणी में बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। आपको पचास पौंड छात्रवृत्ति भी मिली। लन्दन में आप बड़ा सादा जीवन व्यतीत करते थे। विलायत से जब आप भारत लौटे तो एक परीक्षक ने इन्हें चीफ जस्टिस स्काट के नाम पर एक पत्र दिया, जिसमें लिखा था कि ऐसे योग्य व्यक्ति को न्याय-विभाग में कोई ऊँची पदवी मिलनी चाहिए। भारत आकर आपने अहमदाबाद में वकालत प्रारम्भ कर दी। उनकी असाधारण योग्यता तथा प्रतिभा के कारण कुछ ही दिनों में उनकी गणना नगर के प्रसिद्ध बैरिस्टरों में होने लगी।

बैरिस्टरी पास करने से पूर्व ही आपका विवाह भी हो चुका था। आपकी दो सन्तान कुमारी मणिबेन पटेल तथा डाह्या भाई पटेल हैं। १६०२ में प्लेग की बीमारी से आपकी पत्नी का देहान्त हो गया। किन्तु आप इस दुःखद घटना से तनिक भी विचलित न हुए।

जब आप अहमदाबाद में वकालत करते थे, तब गांधीजी ने राजनीतिक क्षेत्र में अपना कार्य आरम्भ कर दिया था। गांधीजी देश-भर का पर्यटन करते हुए अहमदाबाद पहुँचे और वहाँ उनके कई व्याख्यान हुए। सरदार पटेल पर गांधीजी के व्याख्यानों का विशेष प्रभाव पड़ा और उनके हृदय में गांधीजी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगी।

सन् १६१६ में आप सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। उस वर्ष गोधरा में गांधीजी की प्रधानता में राजनीतिक सम्मेलन हुआ, जिसमें *बेगार-निवारिणी-समिति* बनाई गई और सरदार पटेल को

उसका अध्यक्ष चुना गया। गांधीजी चम्पारन चले गए और उसका सब कार्य आपको करना पड़ा। इस कार्य में आपको शानदार सफलता प्राप्त हुई। आपने बेगार-प्रथा बन्द कर दी। गांधीजी ने इस सफलता से प्रसन्न होकर सरदार की बड़ी प्रशंसा की थी।

१९१८ में गांधीजी ने खेड़ा के किसानों की दयनीय अवस्था देखकर वहाँ सत्याग्रह करने का निश्चय किया। उस समय सबसे पहले आपने ही गांधीजी का साथ दिया। उन्होंने गाँव-गाँव में घूमकर किसानों में जागृति उत्पन्न की और उन्हें अपने अधिकार लेने पर प्रस्तुत किया। सत्याग्रह बड़े जोरों से छिड़ा और अन्त में सरकार को झुकना पड़ा।

कुछ ही दिनों पश्चात् गांधीजी ने *रौलट-एक्ट* के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। सरदार पटेल ने भी उसमें साहसपूर्वक भाग लिया। आपने हँसते-हँसते अनेक कठिनाइयों को सहन किया। पंजाब के हत्याकांड के विरुद्ध गांधीजी ने जब असहयोग-आन्दोलन प्रारम्भ किया, उसमें भी सरदार पीछे न रहे। गांधीजी के जेल चले जाने के पश्चात् भी आपने गुजरात में चर्खे और खद्दर की धूम मचा दी। उन दिनों आपने बरमा का दौरा किया और *गुजरात विद्यापीठ* के लिए १० लाख की भारी रकम एकत्रित की।

१९२३ में नागपुर में कांग्रेसी झंडे की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए सत्याग्रह करने की आवश्यकता पड़ी। इस आन्दोलन का अध्यक्ष सरदार पटेल को बनाया गया। उन्होंने इस कार्य को ऐसी सुन्दरता से संगठित किया कि कहीं तनिक भी गड़बड़ न हुई। अन्त में सरकार को झुकना पड़ा और सरदार की विजय हुई। इस विजय से उनका यश दूर-दूर तक फैल गया।

इसके अनन्तर सरदार पटेल को *बोरसद* में *सत्याग्रह* करना पड़ा। सरकार ने उस ताल्लुके के लोगों पर इस अपराध पर दो लाख चालीस हज़ार रुपये का कर लगा दिया कि वे अपराधी जाति के लोगों

को आश्रय देते थे। सरदार पटेल के प्रयत्न से वह कर हटा दिया गया। इसी प्रकार आनन्द ताल्लुके में सत्याग्रह करके आपने वहाँ के लोगों का कर क्षमा कराया था। उन दिनों सरदार पटेल किसानों की आत्मा थे और किसान उनकी ललकार पर प्राण तक देने को तैयार थे। १९२४ से २८ तक आप अहमदाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन रहे और इस पथ पर रहकर उन्होंने जनता की अपूर्व सेवा की।

सरदार पटेल को सबसे अधिक ख्याति *बारदोली-सत्याग्रह* के कारण मिली है। १९२८ में सरकार ने बारदोली ताल्लुके के किसानों का लगान उनके विरोध करने पर भी २२ प्रतिशत बढ़ा दिया। इससे किसानों में असन्तोष फैल गया और उन्होंने सत्याग्रह करने का निश्चय कर लिया। सरदार पटेल को आन्दोलन का नेता बनाया गया। उन्होंने किसानों को बताया कि सत्याग्रह करना कोई खेल नहीं है। इसके लिए उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़ेंगे। घर-बार और सम्पत्ति लुट जायगी, उनके बच्चे दाने-दाने को मुहताज हो जायंगे, किन्तु किसानों ने उन्हें वचन दिया कि हम सब-कुछ सहन कर लेंगे, किन्तु पीठ नहीं मोड़ेंगे। जब आपको किसानों की दृढ़ता का निश्चय हो गया तो १२ फरवरी को बारदोली में सत्याग्रह का नाद बजा दिया। सरकार के भीषण दमन और अत्याचार करने पर भी सत्याग्रह बराबर चलता रहा। अन्त में सरकार को मुँह की खानी पड़ी और समझौता हो गया। १२ अगस्त को समस्त ताल्लुके में विजयोत्सव मनाया गया। इस सफलता के बाद आप न केवल गुजरात के प्रत्युत समस्त भारत के *सरदार* बन गए।

१९३० में महात्मा गांधी ने *नमक-सत्याग्रह* प्रारम्भ किया। सरदार ने उसमें पूर्ण रूप से भाग लिया। इन्हें गिरफ्तार करके तीन मास की कैद की सजा दी गई। कारागार में इन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े। जेल से मुक्त होते ही आप फिर देश-सेवा में लग गए। पं० मोतीलाल की गिरफ्तारी के पश्चात् आपको ही राष्ट्रपति बनाया गया। इनकी

अधीनता में धरसना और बडाला में सत्याग्रहियों ने बड़ी वीरतापूर्वक पुलिस की लाठियाँ खाईं।

१९३१ में *कराची-कांग्रेस* में आपको *राष्ट्रपति* के पद से सम्मानित किया गया। यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक अधिवेशन बड़ी विकट परिस्थितियों के बीच हुआ था। समस्त देश में सन्ताप, विषाद तथा विक्षोभ की लहर दौड़ रही थी। ऐसी अवस्था में देश के नेतृत्व की बागडोर संभालना आप-जैसे साहसी मानव का ही काम था। सरदार ने अपने अध्यक्ष पद से बड़ा हृदय स्पर्शी भाषण दिया था। इसी अधिवेशन में भगतसिंह की फाँसी पर शोक-प्रस्ताव पास किया गया तथा अन्य कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव भी इसी अधिवेशन में पास हुए।

इसके पश्चात् सन् १९४२ तक आप देश के समस्त राजनीतिक कार्यों में तन्मयता के साथ भाग लेते रहे। कई बार जेल गये और कई बार छोड़े गए। कौंसिलों में चुनाव लड़ने के लिए कांग्रेस ने जो पार्लमेंटरी बोर्ड बनाया, उसका अध्यक्ष सरदार पटेल को बनाया गया। कांग्रेस की शानदार विजय हुई और सात प्रान्तों में कांग्रेस-राज स्थापित हो गया। सरदार पटेल ने बड़ी योग्यतापूर्वक कांग्रेसी-मंत्रिमंडल का संचालन किया।

८ अगस्त १९४२ को बम्बई में *'भारत-छोड़ो'* प्रस्ताव पास किया गया। सरदार ने इस अवसर पर बड़ा जोशीला भाषण दिया था। सरकार ने अगस्त-आन्दोलन का पूरी तरह दमन किया और अन्य नेताओं के साथ सरदार पटेल को भी गिरफ्तार कर लिया।

सन् १९४५ में *शिमला-कांफ्रेंस* के समय अन्य नेताओं के साथ आप भी छोड़े गए। तीन वर्ष के कारावास के पश्चात् आप एक विशाल गम्भीरता और आत्म-विश्वास लेकर देश के सम्मुख आये। गांजीजी के *'भारत-छोड़ो'* नारे को आपने 'एशिया छोड़ो' में परिवर्तित कर दिया।

सितम्बर १९४६ में *अन्तरिम सरकार* बनी और सरदार पटेल ने

उप-प्रधान मंत्री के पद को सुशोभित किया। तब से अब तक वे उसी उत्तरदायित्व पूर्ण पद पर विराजमान हैं और अनेक कर्त्तव्यों का पालन करने में युवकों से भी बढ़-चढ़कर उत्साह दिखा रहे हैं। आज-कल गृह-विभाग, रियासत-विभाग तथा ब्राडकास्टिंग विभाग के अध्यक्ष सरदार पटेल ही हैं। स्वाधीनता-संग्राम में जहाँ अंग्रेजी सरकार से लोहा लेकर आपने अपने अदम्य साहस और अपूर्व शौर्य का परिचय दिया, वहाँ यह भी सिद्ध कर दिया कि अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी शासन-सम्बन्धी जटिल समस्याओं को सुलझाने की अपूर्व क्षमता भी आपमें विद्यमान है। भारत की ६०० रियासतों का एकीकरण करके आपने भारत के इतिहास में एक ऐसा उदाहरण उपस्थित कर दिया है, जो विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। देशी रियासतों की जो समस्या अंग्रेजों के लिए सिर दर्द बनी रही, आपने उसे बाल-लीला के समान सहज ही सुलझा दिया। कुछ रियासतें प्रान्तों में लीन कर दी गईं, कुछ एकत्र करके हिमाचल प्रदेश, मत्स्य-संघ तथा राजस्थान-संघ आदि के रूप में बदल दी गईं। आपने यह कार्य इतनी कुशलता तथा बुद्धिमत्तापूर्वक किया है कि बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी दाँतों तले अँगुलियाँ दबा गए हैं। जिन रियासतों के शासकों ने हिन्द सरकार के विरुद्ध कुछ चूँ-चरा भी की, उनके प्रति सरदार ने कठोर कदम उठाकर अपनी वीरता और साहस का परिचय दिया। रीवां, जैसलमेर, अलवर और हैदराबाद आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

वस्तुतः वह देश धन्य है, जिसको सरदार पटेल-जैसा उत्साही, योग्य, बुद्धिमान्, निर्भीक, कर्त्तव्य परायण और दृढ़ संकल्पी नेता मिला है। हमें विश्वास है कि उनके नेतृत्व में हमारा देश दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करेगा।

सात

भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू

देवी सरोजिनी नायडू भारत माता की उन वीरांगना सुपुत्रियों में से थीं, जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में एक प्रमुख भाग लेकर भारतीय नारी-आदर्श की गौरव गरिमा को संसार में चमत्कृत कर दिखाया। वे स्त्री होते हुए भी पुरुषों से आगे थीं। उनकी अविचल देश-भक्ति, अदम्य साहस और महान् त्याग के आगे प्रत्येक भारतीय श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता है। भारत के युवक और युवतियों की वे मातेश्वरी थीं। उन्होंने अपनी प्रतिभा, ऐश्वर्य और विलासिता को देश की स्वाधीनता की पुकार पर न्योछावर करके एक अनुपम आदर्श उपस्थित किया और संसार को यह दिखा दिया कि अर्वाचीन युग में भी भारत की महिलाएं अन्य स्वाधीन राष्ट्रों की नारियों से किसी बात में भी कम नहीं हैं।

सरोजिनी नायडू का जन्म १३ फरवरी १८७८ को हैदराबाद राज्य में डाक्टर अघोरनाथ चट्टोपाध्याय के घर में हुआ। चट्टोपाध्याय जी विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् थे। डा० अघोरनाथ बंगाली थे। किन्तु उनके पूर्वज कुछ समय से हैदराबाद में आकर रहने लगे थे। विद्या-समाप्ति के अनन्तर उन्होंने हैदराबाद में *निज़ाम कालिज* खोला, और उसे अपने परिश्रम से खूब बढ़ाया।

सरोजिनी पिता की प्रथम सन्तान थीं, इसलिए उनका पालन पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा बड़े आमोद-प्रमोद में हुई। माता के सुशिक्षित होने के कारण उनके घर में अंग्रेजी ही बोली जाती थी। इस कारण सरोजिनी ने बाल्यकाल में ही अंग्रेजी बोलना तथा पढ़ना-

लिखना सीख लिया था। बहुत छोटी अवस्था में ही आप अंग्रेजी में कविता करने लगी थीं। वास्तव में कवि-हृदय तो आपको माता-पिता के उभय संस्कारों से ही प्राप्त हुआ था। और काव्य-परिशीलन के विशद और उच्च वातावरण में आपका पालन-पोषण हुआ। विज्ञान और गणित-जैसे नीरस विषय आपकी कवि-प्रिय आत्मा को रुचिकर नहीं थे। आपके गणित के प्रश्न भी कविता का रूप धारण कर लेते थे। आपकी बुद्धि इतनी तीव्र और कुशाग्र थी कि ११ वर्ष की अवस्था में ही आपने मद्रास की मैट्रिक परीक्षा पास कर ली। और १३ वर्ष की अवस्था में आपने १३०० पंक्तियों की *लेडी आफ दी लेक* नामक कविता लिखी और लगभग १०० पृष्ठ का *नाटक* भी रच डाला। आप की इन कृतियों को देखकर लोग आश्चर्यान्वित हो गए।

आपकी असाधारण प्रतिभा को देखकर निज़ाम-सरकार ने छात्र-वृत्ति देना स्वीकार किया और सरोजिनी उच्च शिक्षा पाने के लिए इंगलैंड गईं। तीन वर्ष तक वे किंग्स कालिज में शिक्षा पाती रहीं। इन्होंने वहां के सभा-समाजों में बड़े उत्साह से भाग लिया वे इटली की सैर को भी गईं। वहां के रमणीक दृश्यों ने इनके हृदय में स्फूर्ति, कल्पना में उड़ान और अन्तर में भव्य भावनाएं भर दीं। इनकी काव्य-प्रतिभा, जो अभी तक कली के रूप में थी, खिल पड़ी और उन्होंने सुन्दर कविताएं लिखीं।

१८९८ में वे इंगलैंड से भारत लौट आईं। अपनी स्वतंत्र वृत्ति के कारण उन्होंने स्वयं चट्टोपाध्याय ब्राह्मण होते हुए भी, अब्राह्मण डाक्टर गोविन्द राजुलू नायडू से विवाह कर लिया। इस अन्तर्जातीय विवाह से ब्राह्मण-समाज में खूब चिल्ल-पों मची। किन्तु आपकी स्वतंत्र आत्मा तो जात-पात की संकीर्णता से परे थी। सरोजिनी ने अपनी विद्या और कुशलता से घर की भूमि को स्वर्ग बना दिया। उनकी चार सन्तान दो लड़के और दो लड़कियाँ उत्पन्न हुईं।

सरोजिनी नायडू इस देश की उन भावुक और देश-भक्त विभूतियों

में थीं जो केवल पराधीन देश में जन्म लेने के कारण ही राजनीति के क्षेत्र में आईं। अन्यथा उनके जीवन का मुख्य कार्य साहित्य-सृजन ही होता। उनके इंगलिश कविताओं के संग्रह *गोल्डन थैशोल्ड* और *बर्ड आफ टाइम* इंग्लैंड में खूब प्रसिद्ध हुए। किन्तु एक प्रमुख इंग्लिश आलोचक एडमंड ग्रोस ने उनकी कविताओं में भारतीयता के प्रभाव की तीव्र आलोचना की, जिससे उनके हृदय को एक ठोकर लगी और उनका ध्यान देश की ओर गया।

सन् १९१५ में आप राजनीतिक आन्दोलन एवं स्वतंत्रता-संग्राम में एक सफल वक्ता के रूप में अवतीर्ण हुईं और १९१६ में लखनऊ-कांग्रेस में आप प्रथम बार सम्मिलित हुईं। वहां आपने स्वायत्त-शासन पर एक बहुत ही प्रभावशाली भाषण दिया। आपकी वक्तृत्व शक्ति ने श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर बना दिया। उस समय से बराबर आप कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेती रहीं और आपकी गणना कांग्रेस के नेताओं में की जाने लगी।

१९१७ में आपने समस्त देश का दौरा किया और स्थान-स्थान पर राजनीतिक विषयों पर भाषण दिए। १९१८ में आप मद्रास-प्रान्तीय कांग्रेस की अध्यक्षा बनीं। १९१९ में आपने यूरोप जाकर अन्तर्राष्ट्रीय स्त्री-मताधिकार-परिषद् में अपना भाषण दिया। १९२२ के अन्त में आपने कांग्रेस की ओर से दक्षिणी- अफ्रीका का दौरा किया।

१९२५ में कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उस समय साम्प्रदायिक दंगों के कारण देश का वातावरण बड़ा विषाक्त था। ऐसे नाजुक समय में राष्ट्रपति-पद के लिए किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो साम्प्रदायिक वैमनस्य के उन्मूलन में समर्थ तथा हिन्दू-मुसलमान सभी का विश्वास-पात्र हो। अतः सर्व सम्मति से आपको ही उस गौरवमय पद पर सुशोभित किया गया। आपने अपने सभापति पद से बड़ा ही हृदयग्राही भाषण दिया।

अगस्त १९२९ में आप अफ्रीका में वहाँ की भारतीय कांग्रेस

की अध्यक्षा बनकर गईं। १९३० में नमक-सत्यग्रह के आन्दोलन में साहसपूर्वक भाग लेकर आपने यह सिद्ध कर दिखाया कि भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में महिलाओं का स्थान भी पुरुषों से कम नहीं है। जब गान्धी जी और वयोवृद्ध तैयब जी गिरफ्तार कर लिये गए तो सत्याग्रह का संचालन करने आप वहाँ पहुंचीं। धरसना नामक नमक-गोदाम पर धावा बोलने के लिए जो जत्था जा रहा था, उसका नेतृत्व आपने किया। एक स्थान पर पूरे २० घण्टे तक धरना दिये बैठी रहीं और उस चिलचिलाती धूप में आपको एक घूंट पानी तक न मिला। किन्तु आप दृढ़ता पूर्वक अपने स्थान पर अटल रहीं।

१९३१ में आप महिला सदस्य के रूप में गोल मेज़-कान्फ्रेंस में भाग लेने लन्दन गईं और गांधी जी को पूरा सहयोग दिया। १९३१-३२ के आन्दोलनों में आप भी जेल गईं और हंसते-हंसते जेल की यातनाओं को सहन किया। १९४२ के आन्दोलन में भी आपने सक्रिय भाग लिया।

सरोजिनी नायडू ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए सदैव प्रयत्न किया। साम्प्रदायिकता की गन्ध से वे कोसों दूर थीं। उनकी राष्ट्रीयता दूध की भाँति पवित्र एवं उज्ज्वल थी। राष्ट्र के साथ वे पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर चुकी थीं। फिर भी वे राजनीतिज्ञ नहीं थीं देश-सेविका थीं। गान्धी जी पर उनका अगाध प्रेम तथा अटूट श्रद्धा थी। गान्धी जी के पवित्र संदेश को उन्होंने अपने मुक्त-कंठ से देश और विदेशों में मुखरित कर दिया।

वृद्धावस्था में भी आपके साहस एवं कार्य-शक्ति में कुछ अन्तर नहीं पड़ा। १९४७ में दिल्ली में एशियायी-सम्मेलन का सभापतित्व आपने ही किया था। भारत के स्वाधीन होने पर १५ अगस्त १९४७ को आपको युक्तप्रान्त का गवर्नर बनाया गया। आपने इस उत्तर-दायित्व पूर्ण पद पर कार्य करके अपनी योग्यता और प्रतिभा का अद्भुत परिचय दिया।

११ फरवरी १९४९ लखनऊ से दिल्ली को जाते हुए आप सहसा रुग्ण हो गईं और उसके पश्चात् आपकी हालत गिरती ही गई। बीमारी के इन दिनों में आप अनेक सामाजिक समारोहों में भाग लेती रही थीं। बड़े-बड़े योग्य डाक्टरों की चिकित्सा से भी आपको आराम न हुआ और २ मार्च १९४९ को प्रातः काल २ बजे लखनऊ के गवर्नमेन्ट-हाउस में आपका देहान्त हो गया। समस्त देश में आपकी मृत्यु का शोक मनाया गया। सरोजिनी नायडू की मृत्यु से गान्धी जी का एक अत्यन्त निकटवर्ती व्यक्ति ही नहीं उठ गया, वरन् भारतीय उद्बुद्ध महिला-समाज का एक अनुपम रत्न जाता रहा।

शिक्षा-शास्त्री. समाज-सुधारक

एक

राजा राममोहन राय

रत्न-प्रसविनी भारत-भूमि ने अमित काल से अनेक ऐसे पुरुष रत्नों को जन्म दिया है जो आत्मा और शरीर दोनों की दृष्टि से आदर्श हों। मध्यकाल में जब सत्यवादी युधिष्ठिर के सिंहासन पर मुसलमान सम्राट् आरूढ़ हो चुके थे, तब भी विद्यापति, जयदेव, तुलसी, नानक, गुरु गोविन्दसिंह आदि धर्म-प्रचारकों ने समाज की उन्नति का यथेष्ट प्रयत्न किया था। इसके अनन्तर जब मुसलमानों का प्रताप-रवि भी पश्चिमांचल में छिपने लगा और अंग्रेजों की विजय-पताका इस देश पर फहराने लगी, उस समय भी भारत-माँ की गोद सुयोग्य पुत्र-रत्नों से वंचित नहीं रही। अर्वाचीन काल में जिन महापुरुषों ने देश-विदेश में भारत का मुख उज्ज्वल किया है उनमें बंगाल के राजा राममोहन राय का भी एक विशिष्ट स्थान है।

आज से दो शताब्दी पूर्व जब भारत में पश्चिमी सभ्यता का पर्याप्त प्रचार नहीं हुआ था, समस्त देश कुसंस्कारों और कुरीतियों का अखाड़ा बना हुआ था, धर्म के सिंहासन पर आडम्बर और विलास की प्रतिमूर्त्तियों का अधिकार था, वैभवशालियों के अत्याचार से, दरिद्र और अहम्मन्य पुरुषों के अनाचार से महिलाओं का दम घुट रहा था, पुण्य-सलिला भागीरथी के दोनों तट अनाथिनी विधवाओं के आर्त-नाद से गुञ्जायमान हो रहे थे, सती दाह का चितानल धू-धू कर मनुष्यों का उपहास कर रहा था, उस प्रगाढ़ अन्धकार में महात्मा राममोहन राय दीप-शिखा की भाँति प्रकट हुए।

राजा राममोहन राय का जन्म सन् १७७४ में हुगली जिले के अन्त-

शिक्षा-शास्त्री, समाज-सुधारक



राजा राममोहनराय







महामना पं. मदनमोहन मालवीय



विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर



र्गत राधानगर ग्राम में हुआ था। इनके पिता रामकान्त नवाब सिराजुद्दौला के यहाँ एक उच्च पद पर नौकर थे। अन्त में नौकरी छोड़कर राधानगर चले आये। यहाँ बर्दवान के राजा से इन्होंने कुछ ग्राम लगान पर ले लिये थे। रामकान्त परम वैष्णव थे और प्रायः तुलसी की माला लेकर राम नाम का जप किया करते थे। राजा राममोहन राय की जननी भी गुणवती, बुद्धिमती और धर्मपरायणा थीं। तात्कालिक प्रचलित धर्म में उनको अटूट भक्ति थी। संसार के अन्य महापुरुषों की भाँति राममोहन राय ने भी मातृ-भावनाओं से प्रेरित होकर अपनी आत्मा को महान् बनाया।

उस समय संस्कृत, अरबी और फारसी भाषा का प्रचार था। राममोहन ने कतिपय मास तक संस्कृत का अध्ययन करके फारसी का अभ्यास आरम्भ कर दिया। शैशव काल में उनकी असाधारण मेधा और तर्क-शक्ति का परिचय प्राप्त कर ग्रामवासी आश्चर्य करते थे। ९ वर्ष की अवस्था तक राममोहन ग्राम में ही प्रारम्भिक शिक्षा-लाभ करते रहे, तदनन्तर उनके पिता ने अरबी और फारसी का अध्ययन करने के लिए उन्हें पटना भेज दिया। दो-तीन वर्ष में ही अपनी विलक्षण बुद्धि की सहायता से वे अरबी भाषा में व्युत्पन्न हो गए। कुरान के पाठ तथा मौलवी-मुल्लाओं के सहवास से उनके हृदय में एकेश्वरवाद का अंकुर पटना में ही उत्पन्न हो गया था। राजा राममोहनराय को *सूफ़ी मत* पर भी बड़ी श्रद्धा थी।

१२ वर्ष की अवस्था में पिता के आदेश से राममोहन संस्कृत भाषा और तद्विषयक शास्त्रों को पढ़ने के लिए बनारस चले गए। अल्प काल में ही प्राचीन आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन करके वे घर लौट आये। मुसलमानों के सहवास से जिस एकेश्वरवाद का अंकुर इनके हृदय में जम गया था, वह शास्त्र-प्रतिपादित ब्रह्म ज्ञान से बढ़ने लगा। पिता-पुत्र के विचार एवं मत भिन्न-भिन्न होने के कारण परस्पर वाद-विवाद भी हो जाता था। कभी-कभी दुःखी होकर रामकान्त पुत्र का

तिरस्कार भी कर देते थे। १६ वर्ष की आयु में राममोहन ने प्रचलित धर्म के विरुद्ध आवाज़ उठाई और अपने विचारों को पुस्तक-बद्ध किया। जिस समय समग्र देश पौत्तलिकता के निबिड़ अन्धकार से आच्छादित था, पाश्चात्य ज्ञान और सभ्यता का प्रवेश नहीं हुआ था, शिक्षणालयों का सर्वथा अभाव था, उस समय उनके क्रान्तिकारी विचारों ने जनता में एक तहलका-सा मचा दिया। उनके उत्साह और विद्वत्ता की सब ओर चर्चा होने लगी। इस पुस्तक के कारण पिता-पुत्र का विवाद भी बढ़ गया और षोडश-वर्षीय राममोहन को गृह-त्याग करना पड़ा।

भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भ्रमण करके राममोहन ने अनेक भाषाएं सीखीं और उनके द्वारा अनेक धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसी बीच बौद्ध धर्म का अनुशीलन करने के लिए उन्होंने तिब्बत की यात्रा की। वहाँ इन्होंने बौद्ध मत का खंडन करके *एकेश्वरवाद* का प्रचार किया। तिब्बत निवासी अपने धर्म का खंडन सुनकर बड़े क्रोधित हुए, कोमल-हृदय स्त्री-जगत् ने उनके विचारों का विशेष आदर और समर्थन किया। वास्तव में तिब्बत में महिलाओं की सहायता ने ही राममोहन की रक्षा की। तिब्बत-वासिनी नारियों के स्नेहपूर्ण व्यवहार से नारी-जगत् के प्रति राममोहन को बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी।

कुछ दिन तक हिमालय के उत्तरवर्ती प्रदेश में भ्रमण करके वे पुनः घर लौट आये। घर आकर उन्होंने एकाग्र चित्त होकर संस्कृत शास्त्रों की चर्चा प्रारम्भ की। हिन्दू शास्त्र-सागर को मथकर वे ब्रह्मज्ञान के रत्न की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने लगे। उनकी यह दशा देख पिता-पुत्र में पुनः कलह रहने लगा। विवश होकर राममोहन को फिर घर छोड़ना पड़ा। १२-१३ वर्ष तक उन्होंने काशी में निवास करके अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त की। इसी समय सन् १८०३ के आस-पास इनके पिता रामकान्त की मृत्यु हो गई। मृत्यु के समय राममोहन पिता के पास ही थे।

प्राय: छोटी-मोटी घटनाएं ही महापुरुषों के हृदय पर इतना गहरा प्रभाव डालती हैं कि उनका जीवन-उद्देश्य उनमें ही प्रतिबिम्बित हो उठता है। राममोहन राय के समय में प्रतिदिन अनेक नारियों को अपनी इच्छा के विरुद्ध सती-धर्म की प्रथानुसार भस्मसात् होना पड़ता था। किन्तु किसी ने भी उस पाशविक अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन नहीं किया। उन्हीं दिनों राममोहन राय ने भी अपनी भावज पर इसी अत्याचार का हृदय-विदारक दृश्य देखा था। उनके बड़े भाई जगमोहन राय की मृत्यु पर उनकी पत्नी को बरबस सती कराया गया। जब चिता में अग्नि प्रज्वलित हुई तो ज्वाला-ताप से तप्त होकर वह कोमलांगी वहाँ से उठ भागी। किन्तु यमदूतों के समान अनेक धर्माधिकारियों ने लम्बे-लम्बे बाँसों की मार से उसे चिता में गिराकर उसकी भी कपाल-क्रिया कर दी। यह देखकर राममोहन राय का हृदय प्रकम्पित हो उठा। उन्होंने मन-ही-मन *सती-प्रथा* के मूलोच्छेदन की प्रतिज्ञा की। अन्त में उनके उद्योग से सन् १८११ में इस कुप्रथा का प्रतिषेध हुआ।

राजा राममोहन राय को संस्कृत, अरबी और फारसी का पर्याप्त ज्ञान था, फिर भी पाश्चात्य सभ्यता का अनुशीलन तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें अंग्रेजी के ज्ञान की आवश्यकता अनुभव हुई। अत: उन्होंने अंग्रेजी का साधारण अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। मुसलमानों के राजत्व काल में अनेक अत्याचार होते हुए भी सर्वोच्च राज-पद पर हिन्दू अथवा मुसलमान ही नियुक्त होते थे। किन्तु इसके विपरीत ईस्ट इण्डिया कम्पनी के युग में भारतीयों को उच्च सरकारी पदों से वंचित कर दिया था। उनके लिए उच्च सरकारी नौकरी सरिश्तेदार की नियत थी। राममोहन ने जान डिगबी साहब के कार्यालय में नौकरी के लिए आवेदन-पत्र भेजा जो स्वीकार कर लिया गया और वे डिगबी साहब के दीवान नियुक्त हुए। डिगबी महोदय उनकी योग्यता और विद्वत्ता से अत्यन्त प्रभावित हुए और

१८१४ ई० तक उन्हें अपने साथ रखा। डिगवी साहब के सम्पर्क से उनका अंग्रेजी-ज्ञान बहुत उन्नत हो गया और डिगवी साहब उनके अनन्य मित्र बन गए। उसी वर्ष कुछ विशेष कारणों से बाध्य होकर राममोहन राय ने नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और रघुनाथपुर ग्राम में अपनी छोटी-सी कुटिया बनाकर रहने लगे।

राममोहन राय के पिता ने उनके तीन विवाह किये थे। ६ वर्ष की अवस्था में उनके दो विवाह हो चुके थे और तीसरा विवाह द्वितीय पत्नी की उपस्थिति में किया गया था। राममोहन राय बहु-विवाह के पक्ष में नहीं थे, किन्तु बाल्यावस्था में ही माता-पिता ने उन्हें जकड़ दिया था। रघुनाथपुर में कुछ दिन निवास करने के पश्चात् उनका मन ऊब गया। भद्र-समाज अथवा कार्यक्षेत्र के अभाव में ग्राम में अकर्मण्य होकर रहना उन्हें खलने लगा। अन्त में वे ४२ वर्ष की अवस्था में कलकत्ता चले आये।

कलकत्ता आकर उन्होंने देशोद्धार की भावना से प्रेरित होकर अपना कार्य आरम्भ कर दिया। उनके प्रचार से समस्त बंगभूमि में आन्दोलन मच गया। धनिकों की बैठक में, भट्टाचार्यों की पाठ-शालाओं में और ग्राम-ग्राम के चंडी मंडपों में राममोहन राय की चर्चा होने लगी। उनकी क्षमता, गम्भीर मुद्रा और मधुर व्यवहार से आकृष्ट होकर अनेक संभ्रान्त व्यक्ति उनके पास एकत्रित होने लगे।

कलकत्ता में कुछ दिन कार्य करने के पश्चात् उन्होंने अनुभव किया कि केवल वक्तृताओं से उनके उद्देश्य में सफलता नहीं मिल सकती। अतएव उन्होंने पुस्तकों द्वारा प्रचार-कार्य आरम्भ किया। *ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक* ग्रन्थों को क्रमशः प्रकाशित कराकर बिना मूल्य वितरित कराया। सर्व प्रथम बंगला में *वेदान्त-सूत्र का भाष्य* प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक से जन-साधारण में उनके सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रचार हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने दो पत्र भी निकाले। जिनमें से एक बंगला में तथा दूसरा फारसी में प्रकाशित होता था।

सन् १८२८ के अगस्त मास में अपने कुछ मित्रों के सहयोग से *'ब्रह्म-समाज'* की स्थापना की। तदनन्तर उनके अनुयायियों और शिष्यों ने दिन-रात एक करके बंगभूमि के कोने-कोने में *एकेश्वरवाद* का संदेश पहुँचा दिया। अनेक समयोपयोगी सामाजिक प्रश्नों पर विचार करके अंग्रेज़ शासकों की आँखें खोलीं और वेद-विद्यालय, हिन्दू कालिज आदि शिक्षणालयों की नींव डाली। इसी समय उन्होंने मातृ-भाषा की इतनी उन्नति की कि आज भी वे बंगला-गद्य के सृष्टिकर्ता माने जाते हैं।

सन् १८२१ से १८२६ तक राममोहन राय को अनेक यंत्रणाओं का सामना करना पड़ा। उस समय उनके ज्येष्ठ पुत्र राधाप्रसाद सरिश्तेदार पर ग़बन का अभियोग लगाया गया था, किन्तु राममोहन राय के प्रभाव तथा प्रयत्न से वह निर्दोष सिद्ध होकर मुक्त हो गया। इसी समय उनकी धर्म-निष्ठा माता का भी स्वर्गवास हो गया और इसके कुछ दिन पश्चात् उनकी द्वितीय पत्नी श्रीमती देवी का भी देहान्त हो गया। पत्नी के वियोग से राममोहन अत्यन्त कातर और खिन्न हो गए थे।

राममोहन राय की विदेश-यात्रा की बलवती इच्छा थी। वे अंग्रेज़ों को उनके स्वतंत्र देश में देखकर उचित ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे, किन्तु अर्थाभाव और समयाभाव से विवश थे। उन्हीं दिनों दिल्ली के बादशाह का कम्पनी से कुछ झगड़ा चल रहा था और उसका विचार लन्दन में होने वाला था। बादशाह ने राममोहन राय को राजा की पदवी से विभूषित करके राजदूत बनाकर विलायत भेजने का निश्चय किया। तब प्रचलित प्रथा के अनुसार समुद्र-यात्रा निषिद्ध थी, अतएव समस्त देश में कोहराम मच गया। किन्तु देशवासियों के व्यर्थ प्रतिरोध की उपेक्षा करके राजा राममोहन राय तो १५ नवम्बर सन् १८३० ई० को विलायत के लिए प्रस्थान किया।

इंग्लैंड में राजा राममोहन राय का अभूतपूर्व सम्मान हुआ। उनके

सम्मानार्थ अनेक सभाएं एवं प्रीतिभोज किये गए। समाचार-पत्रों में उनके प्रगाढ़ पांडित्य तथा भद्राकृति की अनेक दिनों तक चर्चा रही। लिवरपूल, मान्चेस्टर, लन्दन प्रभृति नगरों में उनको सादर निमंत्रित किया गया और जनता ने उनका ब्रह्मविषयक उपदेश सुना। अन्त में कार्याधिक्य के कारण उनका स्वास्थ्य विकृत हो गया और अत्यधिक उपचार करने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ और २७ सितम्बर १८३३ की रात्रि को बृस्टल नगर में उनका शरीरान्त हो गया। उनकी मृत्यु से इंग्लैंड और भारत में हाहाकार मच गया।

राजा राममोहन राय बुद्धि, हृदय, धर्मभाव, आध्यात्मिकता तथा तर्क आदि गुणों में अद्वितीय थे। उनके चरित्र में कोमलता और कठिनता का अद्भुत सामंजस्य था। उनका विचार था कि तात्कालिक सभ्यता और तत्सम्बन्धी ज्ञान मनुष्य-मात्र की मानसिक, राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता पर निर्भर है। उक्त स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए शास्त्र, जनश्रुति, देशाचार और कुसंस्कार की शृंखला को तोड़ना पड़ेगा। यद्यपि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का सर्वमान्य होना आवश्यक नहीं है, फिर भी राजा राममोहन राय की महानता में कोई सन्देह नहीं रह सकता।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

भारत में यों तो बहुत-से *शिक्षा-शास्त्री एवं समाज-सुधारक* हुए हैं, किन्तु ईश्वरचन्द्र विद्यासागर उन मानव-रत्नों में से थे, जिनके नाम से उत्साह, चरित्र से शिक्षा, कार्यों में प्रेरणा और वाणी से शक्ति मिलती है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का जीवन एक आदर्श एवं अनुकरणीय जीवन था। जिस महापुरुष ने जन्म से मृत्यु पर्यन्त जीवन का प्रत्येक क्षण लोक सेवा एवं परोपकार में व्यतीत किया हो, जिसने स्वयं भूखा रहकर क्षुधा-ग्रस्तों के पेट की ज्वाला बुझाई हो, स्वयं नंगा रहकर नंगों को वस्त्र दिये हों, स्वयं दुःखी होकर दुखियों का कष्ट मिटाया हो, वह महापुरुष सर्वथा वन्दनीय एवं स्तुत्य है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एक साहसी, स्वावलम्बी, कर्तव्य परायण और कर्मशील मानव थे। दीन-हीन समाज की दुरवस्था देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता था और वे तन-मन-धन से उसकी सेवा में रत हो जाते थे। इसी से आज प्रत्येक भारतीय उनका नाम श्रद्धा के साथ लेता है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का जन्म सन १८२० ई० में बंगाल में मेदिनीपुर जिले के अन्तर्गत वीरसिंह नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता ठाकुरदास वन्द्योपाध्याय एक निर्धन किन्तु सन्तोषी होने के कारण धनी ब्राह्मण थे। उनके कुल में *न्याय, कर्तव्य-परायणता, परोपकार, दया, दृढता, परिश्रम* तथा *स्वावलम्बन* आदि गुण परम्परा से ही चले आते थे। इसलिए विद्यासागर में इन समस्त गुणों का प्रचुर मात्रा में विद्यमान होना न्याय-संगत था।

लाड़-चाव में पालन-पोषण होने के कारण बाल्य-काल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर बड़े चंचल और नटखट बन गए थे। पाँच वर्ष की अवस्था में इन्हें ग्रामीण पाठशाला में बिठाया। इनकी बुद्धि बड़ी प्रखर और स्मरण-शक्ति तीव्र थी। अपनी योग्यता और बुद्धि बल से इन्होंने तीन वर्ष में ही पाठशाला की पढ़ाई समाप्त कर दी। इसके पश्चात् इनके पिता, जो कलकत्ता में ८) मासिक पर नौकर थे, इन्हें अपने साथ कलकत्ता ले गए और वहाँ एक पाठशाला में पढ़ने बैठा दिया। तीन मास में ही उस पाठशाला की पढ़ाई भी समाप्त कर दी। तत्पश्चात् १८२६ के जून मास में ६ वर्ष की आयु में इन्हें संस्कृत कालिज में भर्ती कराया गया। वहाँ वे व्याकरण की तीसरी श्रेणी में पढ़ने लगे। अपने परिश्रम और बुद्धि-बल से इन्होंने प्रथम वार्षिक परीक्षा में पाँच रुपये की छात्र-वृत्ति प्राप्त की। वे सदैव इसके लिए प्रयत्नशील रहते थे कि कोई विद्यार्थी उनसे आगे न बढ़ जाय। वे सदा अपनी प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता एक-सी बनाये रखने के लिए जी-जान से चेष्टा करते थे।

ईश्वरचन्द्र का परिवार बहुत बड़ा था और पिता निर्धन थे। कभी-कभी तो समस्त परिवार को उपवास करना पड़ता था। इस पर भी जब कभी विद्यालय से छात्र वृत्ति मिलती, तब उससे वे निर्धन भाइयों की सहायता करते थे। कोई सहपाठी बीमार होता तो वे तुरन्त उसकी दवा का प्रबन्ध कर देते। स्वयं मोटे-झोटे वस्त्र पहनकर निर्धन साथियों को अच्छे-अच्छे वस्त्र खरीद देते थे। इस प्रकार परोपकार एवं स्वार्थ-त्याग का महान् गुण इनमें बचपन से ही विकसित होने लगा।

ग्यारह वर्ष की अवस्था में ईश्वरचन्द्र ने *व्याकरण की शिक्षा* समाप्त करके साहित्य श्रेणी में प्रवेश किया। साहित्य की वार्षिक परीक्षा में सर्व प्रथम उत्तीर्ण होकर आपने छात्र-वृत्ति प्राप्त की। आपने अपनी असाधारण योग्यता से सबको चकित कर दिया था। *साहित्य*

की *शिक्षा* सम्पूर्ण करके १५ वर्ष की आयु में वे *अलंकार श्रेणी* में पढ़ने लगे और एक वर्ष में ही अलंकार के ग्रन्थों को समाप्त कर डाला। इसके उपरान्त केवल ६ मास में *धर्मशास्त्र* की परीक्षा पास करके *वेदान्त* पढ़ने लगे।

घर की दशा अच्छी न होने के कारण भर-पेट भोजन न मिलने पर भी, और घर के चौका-बर्तन आदि सब कार्य स्वयं करते रहने पर भी ईश्वरचन्द्र कठिन परिश्रम द्वारा प्रत्येक श्रेणी में सर्व प्रथम उत्तीर्ण होते थे। *न्याय* और *दर्शन* की परीक्षा में भी वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और उन्हें १००) रुपये का पुरस्कार मिला।

अनेक कष्टों और विघ्नों को पार करते हुए विद्यासागर ने प्रत्येक विषय में पूर्ण सफलता प्राप्त की। भिन्न-भिन्न विषयों में कोई अद्वितीय हो सकता है, परन्तु प्रत्येक विषय में अद्वितीय कोई विरला ही मनुष्य होता है १८४१ में २१ वर्ष की आयु में उन्होंने कालिज की ओर से उन्हें *विद्यासागर* की उपाधि दी गई।

१८४१ में कालिज की शिक्षा समाप्त होते ही मार्शल साहब ने आपको फोर्ट विलियम कालिज में अध्यापक के पद पर नियुक्त किया। नौकरी के साथ ही आपने हिन्दी और पढ़ना आरंभ किया। उसी समय विद्यासागर ने अपने एक मित्र को पढ़ाने के लिए एक दिन में एक व्याकरण बनाया, जो बाद में *उपक्रमणिका* नाम से प्रकाशित हुआ और आज तक सब जगह पढ़ाया जाता है।

सन् १८४६ ई० में इन्होंने लार्ड हार्डिंग से कहकर समस्त बंगाल में एक सौ बंगला के स्कूल खुलवाये, जिनमें बच्चे मातृ भाषा की शिक्षा पाने लगे। इन स्कूलों में शिक्षकों के प्रबन्ध का कार्य भी आप ही करते थे। इन सब कार्यों से समय बचाकर आप दीन-दुखियों की सेवा-सहायता करते और इससे भी समय बचाकर फोर्ट विलियम के साहबों को बंगला, हिन्दी और संस्कृत पढ़ाते थे।

उसके कुछ दिनों पश्चात् कालिज की कार्य-प्रणाली में मतभेद हो

जाने के कारण आपने नौकरी छोड़ दी। बड़े-बड़े अधिकारियों के समझाने पर भी आप अपने विचार से न हटे। जब लोगों ने पूछा कि नौकरी छोड़कर क्या करोगे ? तब आपने उत्तर दिया—*आलू-परमल बेचूंगा, मोदी की दुकान करूंगा, किन्तु जिस नौकरी में प्रतिष्ठा नहीं, उसे नहीं करूंगा*। विद्यासागर जितने विनम्र और उदार थे उतने ही स्वावलम्बी और स्वाभिमानी भी थे।

नौकरी छोड़ने पर कुछ दिनों तक बेकार रहे। किन्तु शीघ्र ही कतिपय मित्रों ने आग्रह करके विद्यासागर को संस्कृत कालिज में साहित्य-श्रेणी का अध्यापक बनाया। इस पद पर रहकर आपने प्राचीन अप्राप्य संस्कृत ग्रन्थों का जीर्णोद्धार किया आपने घोर आन्दोलन करके शूद्रों का संस्कृत कालिज में प्रवेश कराया। निर्धन विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ाने की प्रथा जारी की। संस्कृत कालिज की अंग्रेजी शिक्षा सबके लिए अनिवार्य कर दी। बहुतेरे नार्मल स्कूल खोले गए, जिनके निरीक्षण का भार भी आपको सौंपा गया।

१८५७ ई० में कलकत्ता-यूनिवर्सिटी की यथार्थ नींव पड़ी। उस समय आप चार विषयों के परीक्षक बनाये गए। परीक्षा-समिति के सदस्य को ६००) वार्षिक मिलते थे। दूसरे वर्ष ही आपने परीक्षक होना अस्वीकार कर दिया। आप अपने निश्चय पर सदैव दृढ़ रहते थे। संसार की कोई भी शक्ति आपको कर्त्तव्य-परायणता से विचलित नहीं कर सकती थी। एक बार कालिज के डायरेक्टर यंग साहब ने आपसे किसी स्कूल की एक झूठी रिपोर्ट लिखने को कहा। आपने ऐसा करने से तुरन्त इन्कार कर दिया। अधिक कहा-सुनी होने पर आपने तुरन्त नौकरी छोड़ दी।

सन् १८७३ में बंगाल में घोर अकाल पड़ा। उस समय आपने अकाल-पीड़ितों की सहायता में दिन-रात एक कर दिया। स्वयं अपने ग्राम में अन्न-भंडार खोलकर हज़ारों मनुष्यों के प्राण बचाये। अछूतों, अलस्तों और दुखियों की आप विशेष कर सेवा करते थे।

एक दिन प्रातःकाल एक मेहतर ने आकर कहा कि मेरी स्त्री को हैजा हो गया है, यदि आप सहायता न करेंगे तो वह न बचेगी। ईश्वरचन्द्र तुरन्त दवा-दारू लेकर उसके घर पहुँच गए। दिन-भर उसके पास बैठे दवा-दारू करते रहे। सन्ध्या को जब वह कुछ स्वस्थ हुई, तब आप घर आये और भोजन किया।

विद्यासागर की लोक-सेवा और दानशीलता की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। वे अपना सर्वस्व लुटाकर भी दीन-दुखियों की सहायता करते थे। कलकत्ता और बंगाल के असंख्य दीन दुखी लोगों को १),२), ३),४), ५), मासिक की सहायता बहुत दिनों तक मिलती रही। किसी का दुःख सुनते ही उनके सरल उदार हृदय में दया का सागर उमड़ पड़ता था। मनुष्य-मात्र के लिए उनकी दया का द्वार खुला रहता था।

विद्यासागर ने समाज सुधार के लिए भी उल्लेखनीय कार्य किये। विधवाओं की दुःख भरी अवस्था देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने बड़े बड़े पण्डितों से शास्त्रार्थ करके विधवा-विवाह को शास्त्रानुकूल सिद्ध किया। इस विषय में दो पुस्तकें प्रकाशित कराईं, जिन में विधवा-विवाह को शास्त्र के अनुकूल सिद्ध किया गया था। आपने अटूट प्रयत्न करके १८५७ में कौंसिल में विधवा-विवाह का कानून भी पास कराया। आपके सद्प्रयत्नों से जगह-जगह विधवा-विवाह होने लगे। इसके अतिरिक्त आपने स्त्री-शिक्षा पर विशेष ज़ोर दिया और अनेक कन्या पाठशालाएं स्थापित कराईं।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने साहित्य की भी पर्याप्त सेवा की है। भारतेन्दु की भाँति आप प्रचलित बंगला-गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। उनकी पहली हस्तलिखित पुस्तक *वासुदेव-चरित* है। उनका *सीता-वनवास* आज तक हाईस्कूलों में पढ़ाया जाता है। उन्होंने अंगरेजी भाषा में ५ और बंगला में ३० पुस्तकें लिखी हैं। १८३० में उन्होंने *संवाद-प्रभाकर* नाम से एक बंगला-पत्र निकाला, जो उस समय के सर्व श्रेष्ठ पत्रों में था। *सोम प्रकाश* नाम से आपने एक बंगला का

मासिक पत्र भी निकाला था। विद्यासागर अपने अन्तिम समय तक शिक्षा और विद्या का प्रचार करते रहे।

सन् १२६५ में विद्यासागर की धर्म पत्नी बीमार हो गईं। बहुत चिकत्सा कराने पर भी उन्हें लाभ न हुआ और एक दिन आत्मीय जनों की सेवा और आदर का निरादर करके वे सदैव के लिए विदा हो गईं। विद्यासागर पत्नी के वियोग में अति व्याकुल हुए।

उसी दिन से उन्हें भी रोग ने आ घेरा। स्वास्थ्य सुधारने की इच्छा से करासडाँगे के विश्राम-भवन में भी रहने के लिए गये, परन्तु लाभ होता न देखकर पुनः कलकत्ता आकर चिकत्सा कराने लगे। किन्तु कोई लाभ न हुआ और रोग असाध्य होता गया। अंत में बंगला सन् १२६८ के १३ श्रावण को रात्रि १२ बजे आपका शरीरान्त हो गया। समस्त देश में आपकी मृत्यु से शोक की लहर दौड़ गई। जगह-जगह शोक सभाएं करके श्रद्धांजलियां अर्पित की गईं।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर वास्तव में भारत के एक अनुपम रत्न थे। *लोक-सेवा, दलितोद्धार, स्त्री-सुधार* आदि सभी क्षेत्रों में आपकी सेवाएं अभूतपूर्व हैं। आपने अपनी *दानशीलता, कर्तव्य-परायणता, न्याय-प्रियता* एवं *क्रियाशीलता*का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह सदैव तरुण भारत के युवकों का मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।

तीन

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानंद सरस्वती अपने समय के सबसे बड़े सुधारकों में थे। उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब हिन्दू समाज नैतिक-परतंत्रता तथा सामाजिक बंधनों के भार से दबकर मनुष्यत्व के उच्च आसन से गिर रहा था। देश में ऐसे अगणित मत-मतांतर एवं सम्प्रदायों का जन्म हो चुका था, जिनकी पूजा में देव का स्थान स्त्रियों ने ले लिया था और पूजा का स्थान दुराचार ने ले लिया था। नाम के लिए परमात्मा अब भी था, किन्तु पुजारियों ने उसे मंदिर के एक कोने में छिपा दिया था, जहाँ से उसके दर्शन भी दुर्लभ थे। अंधकार और अनाचार की उस भयानक निशा में आर्य लोग अपनी वैदिक संपत्ति को खो चुके थे। आलस्य, पतन और अनाचार के उस अंधकार में स्वामी दयानन्द सरस्वती ज्योति-स्वरूप बनकर भारत के राज-मार्ग पर चमके और उन्होंने मनुष्यत्व के आसन से च्युत आर्य जाति को फिर से उसके अतीत आसन पर आसीन किया और *एकता* तथा *एकेश्वरवाद* का संदेश देकर फिर से उसमें वीर्य, शौर्य तथा पराक्रम की लहर दौड़ाई।

स्वामी दयानंद सरस्वती का जन्म संवत् १८८१ (सन् १८२४) में मौरवी राज्य के टंकारा नाम ग्राम में हुआ था। उनके पिता कृष्णजी औदीच्य ब्राह्मण थे और लेन-देन का कार्य करते थे। दयानंद का बचपन का नाम *मूलशंकर* था। ५ वर्ष की अवस्था से ही मूलशंकर को देवनागरी पढ़ाई गई और बहुत-से मंत्र तथा श्लोक कंठस्थ करा दिये गए। आठ वर्ष की अवस्था में आपका यज्ञोपवीत-संस्कार हो

गया। आपके पिता कृष्णजी शैवमत के अनुयायी थे और शिव की पूजा बड़ी निष्ठा तथा ठाट बाट से किया करते थे। मूलशंकर भी पिता के इन कार्यों में उनके साथ रहते थे।

माघ बदी चतुर्दशी सं० १८६४ को शिवरात्रि का व्रत आया और पिता के साथ मूलशंकर ने भी बड़ी श्रद्धा के साथ उपवास रखा। रात्रि को शिवमंदिर में जागरण हुआ। मूलजी भी उसमें सम्मिलित थे। जब आधी रात्रि का समय हुआ तो पुजारी तथा उपासक सभी ऊँघने लगे; मूलशंकर को नींद कहाँ? वे शिव की अनन्य पूजा में रत थे। उसी समय उन्होंने ऐसी घटना देखी जिसने उनके हृदय में क्रान्तिकारी विचारों का तूफान खड़ा कर दिया। शिव भगवान् की मूर्त्ति के पीछे से कुछ चूहे निकले और सीधा भोग खाने के लिए मूर्त्ति पर चढ़ बैठे। बालक मूलशंकर अवाक् रह गया। त्रिलोकी का स्वामी चूहों से मार खा रहा है? क्या मेरा देवता इतना निर्बल और लज्जा-हीन है? जिस व्यक्ति का, जिस जाति का देवता ऐसा हो, वह स्वयं कैसी होगी? मूलशंकर के हृदय में इन्हीं विचारों का बवंडर उठ खड़ा हुआ। वास्तविक शिव कोई और ही है। मैं उसकी खोज करूँगा। ऐसा उन्होंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया।

मूलशंकर की अवस्था अब चौदह वर्ष की थी। इसी समय दो ऐसी घटनाएं उनके सम्मुख हुईं, जिन्होंने उनके जीवन की धारा को पलट दिया। उनकी बहन को हैज़ा हो गया। बहुतेरा उपचार करने पर भी वह न बची और उसकी मृत्यु हो गई। उनके सामने उनके परिवार में यह प्रथम मृत्यु थी। उन्होंने सोचा—*मुझे भी एक दिन इसी प्रकार मरना है—सबको मरना है—मैं ऐसी औषधि की खोज करूँगा, जो मुझे मृत्यु से बचा ले।* अगले वर्ष उसी व्याधि से उनके चाचा की मृत्यु हो गई। मूल-शंकर ने उन्हें भी जाते देखा। इस समय उनकी अवस्था १६ वर्ष की थी। उन्होंने विलम्ब करना उचित न समझा और मृत्यु से बचने की

औषधि खोजने के लिए घर छोड़ने का निश्चय कर लिया।

उधर उनके पिता उनके विवाह की तैयारियों में संलग्न थे। एक उत्तम कुल में सुन्दर वधू ढूँढी गई, मित्रों ने मूलशंकर को बधाइयाँ दीं, किन्तु मूलशंकर किसी दूसरी चिन्ता में घुल रहे थे। वे विवाह के बन्धन से बचकर कहीं दूर भाग जाना चाहते थे। जीर्ण-शीर्ण समाज को अंधकार के गर्त्त से निकाल कर उसकी पुनः व्यवस्था करने वाले महापुरुष को कौन सांसारिक बन्धनों में बाँध सकता है। अतः संवत् १६०२ में २२ वर्ष का मूलशंकर एक रात्रि को चुपचाप घर से निकल गया। विवाह के उबटन का स्थान भस्म ने ले लिया और वधू के स्थान पर आज वे मृत्यु से बचाने वाले सच्चे योगी गुरू की खोज में थे।

घर से निकलकर वे किसी योगी गुरू की खोज में इधर-उधर भटकने लगे। इसी बीच पिता ने उन्हें एक बार खोजकर पकड़वा मँगाया, किन्तु वे पुनः घर से निकल गए और अहमदाबाद होते हुए बड़ौदा जा पहुँचे। वहाँ वे एक मठ में जाकर अद्वैतवाद के अनुयायी बन गए। यहाँ इनका नाम *शुद्ध चैतन्य* रखा गया। शुद्ध चैतन्य को उनकी मनोनीत वस्तु न मिली, अतः वे अपनी यात्रा में आगे बढ़े और नर्मदा के किनारे चाणोद-कल्याणी नामक स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ पूर्णानंद सरस्वती ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी और इनका नाम *दयानन्द सरस्वती* रखा।

दयानंद सरस्वती को अभी अभीष्ट गुरू नहीं मिल पाया था, वे पुनः अहमदाबाद लौटे और वहाँ के दुग्धेश्वर मंदिर में शिवानन्द गिरि और ज्वालानन्द पुरी नाम के योगियों से योग विद्या सीखी। किन्तु उनके निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति अभी नहीं हुई थी। वहाँ से चलकर वे नर्मदा तट, आबू पर्वत और अन्य स्थानों में घूमते-फिरते संवत् १६११ में हरिद्वार आये। वहाँ चंडी के वन में तपस्या की। पुनः हृषीकेश होते हुए बद्रीनारायण पहुँचे; किन्तु उन्हें उस प्रदेश में

कोई सच्चा गुरू न मिल पाया। अन्त में वे निरंतर तीन वर्ष तक जंगलों, पहाड़ों में दारुण कष्ट झेलते हुए संवत् १६११ में स्वामी विरजानन्दजी की सेवा में मथुरा आ पहुँचे। स्वामी विरजानंद प्रज्ञाचक्षु थे और उनके अगाध पांडित्य की चारों ओर धूम थी। दयानंद ने इन्हीं को अपना गुरू बनाकर उनसे सब शास्त्र पढ़े। इस समय दयानन्द की अवस्था ३५ वर्ष के लगभग थी।

लगभग २॥ वर्ष तक आप वेद-शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। गुरूजी ने भी शिष्य की प्रतिभा और योग्यता पर मुग्ध होकर उससे कुछ छिपा न रखा। पढ़ाई समाप्त होने पर दयानंद ने गुरूजी से भ्रमण करने की आज्ञा माँगी। गुरू ने आशीर्वाद दिया—*जाओ पुत्र, तुम्हारी विद्या सफल होवे, तुम भारत का अंधकार दूर करने में सफल होओ।* गुरू का आशीर्वाद साथ लेकर स्व दयानंद कल्याण यात्रा को चल दिये ।

अपनी इस यात्रा में वे देश के नगर-नगरांतरों का भ्रमण करते, पथ-भ्रष्टों को मार्ग दिखाते, आर्तों का त्राण करते, वेदों का प्रवचन सुनाते, गोवध बंद कराने का प्रयत्न करते हुए फाल्गुण सु० ७ सम्वत् १६२३ को हरिद्वार कुम्भ के मेले में पधारे और वहाँ के अमित जन-समुदाय के मध्य अपनी *पाखंड-खंडिनी पताका* गाड़कर बैठ गए। यहाँ उन्होंने व्याख्यानों और शास्त्रार्थों की वह अटूट धारा बहाई, जिसने जाह्नवी के साथ मिलकर जनता के भ्रम-मल को धो डाला और उन्हें एक बार फिर वेदों का अमर संदेश दिया।

मेले के पश्चात् कर्णवास, अनूपशहर, फर्रुखाबाद, कानपुर आदि नगरों का पर्यटन करते तथा वैदिक धर्म की पताका फहराते संवत् १६२६ में काशी पहुँचे। वहाँ उन्होंने २८ ख्याति प्राप्त पंडितों से शास्त्रार्थ करके उन्हें परास्त किया। और अठारह पुराण, मूर्ति-पूजा, शैव, शाक्त, तंत्र ग्रंथ, मदिरा, व्यभिचार, चोरी और छल-कपट आदि की धज्जियाँ उड़ाते हुए अपने वास्तविक सुधारक रूप का जनता को

परिचय दिया। १२ जून सन् १८७४ को *'सत्यार्थ प्रकाश'* की रचना आरम्भ की, जिसकी प्रथम प्रति १८७५ में प्रकाशित हुई। वहाँ से वे प्रयाग, जबलपुर, नासिक, पंचवटी आदि होते हुए बम्बई आये और वहाँ वैदिक धर्म का प्रचार किया।

३१ दिसम्बर १८७४ को स्वामीजी ने राजकोट में प्रथम *'आर्य-समाज'* स्थापित किया और उसके १० नियम बनाये। १८ जनवरी १८७५ में अहमदाबाद आकर आर्यसमाज की स्थापना की और १० अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना करके समाजों के २८ वैधानिक नियम बनाये।

जनवरी १८७७ में लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक बड़ा दरबार किया, जिसमें स्वामीजी को भी आमन्त्रित किया गया था। यहाँ आपने बाबू केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्रराय तथा मुन्शी कन्हैयालाल आदि दूसरे सुधारकों से विचार-विनिमय किया। वहाँ से चाँदापुर मेले में शास्त्रार्थ करते हुए २१ मार्च १८७७ को लुधियाना और १९ अप्रैल को लाहौर आये। २४ जून को लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना की और २२ अगस्त १८७८ को अमृतसर में आर्यसमाज बनाया।

इस प्रकार देश में फैले पाखंड तथा अविद्या के अंधकार को दूर करके स्वामीजी ने सर्वत्र वैदिक धर्म का प्रकाश फैला दिया। २९ मई सन् १८८३ को आप अजमेर आये और वहाँ उपदेश देकर जोधपुर पहुँच गए। जोधपुर के महाराज यशवन्तसिंह ने आपका स्वागत किया और महाराजा के विशाल आँगन में ही स्वामीजी ने व्याख्यानों की धूम मचा दी और नगर की जनता को सद्धर्म के दर्शन कराये।

महाराज-जोधपुर स्वामीजी के परम भक्त थे। स्वामीजी उनके महल में भी उपदेशार्थ जाते थे। एक दिन स्वामीजी जब महाराजा से मिलने गये तब वहाँ उनकी वेश्या नन्हींजान भी उपस्थित थी। महाराजा ने उसे छिपाने का भी प्रयत्न किया, किन्तु स्वामीजी ने उसे देख ही लिया। बस फिर क्या था—उन्होंने

महाराज को फटकारा—*राजन् ! राजा सिंह होते हैं, वे कुतियों के पीछे नहीं जाते।* इससे जहाँ महाराणा को लज्जा और अनुताप हुआ, वहाँ वेश्या क्रोध में पागल हो गई और उसने स्वामीजी के प्राण लेने की ठान ली।

२५ सितम्बर की रात्रि को दैनिक कार्यों से निश्चिन्त होकर स्वामीजी दूध पीकर सो गए, किन्तु पेट में दर्द हुआ और तीन वमन हुए। क्लेश बढ़ गया। प्रातःकाल उठने पर फिर वमन हुआ और दस्त आरम्भ हो गए। स्वामीजी को संदेह हो गया कि किसी ने विष दे दिया है। उन्होंने नेती-धोती आदि अपने यौगिक उपचार किये, किन्तु जहाँ पहले कई बार वे स्वयं विष का उपचार करने में सफल हुए थे, अबकी बार न हुए। १५ अक्तूबर को रोग अधिक बढ़ जाने पर आबू गये, वहाँ भी शांति नहीं मिली। २३ अक्तूबर को अजमेर आ गए। कई डाक्टरों का उपचार हुआ, किन्तु लाभ न हुआ। अन्त में ३० अक्तूबर को दीपमालिका के दिन संन्ध्या के ६ बजे स्वामीजी प्रसन्न मुख हो सबको आशीर्वाद देकर और '*ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो*' कहकर इस संसार से विदा हो गए।

भारत पर स्वामीजी का महान् ऋण है। अपने छोटे-से जीवन में उन्होंने देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैले हुए *पाखण्ड* एवं *कुप्रथाओं* को दूर करके *वैदिक धर्म* का नाद बजाया। *गोवध* बंद कराने का प्रयत्न किया। *बाल-विवाह* की प्रथा का विरोध करके लोगों को *ब्रह्मचर्य* का महत्त्व बताया। स्थान-स्थान पर *गुरुकुल* खुलवाकर उसमें *संस्कृत शिक्षा* के साथ-साथ ब्रह्मचर्य-पालन पर बल दिया। *विधवा-विवाह* की प्रतिष्ठा की और *मद्य-मांसादि का घोर विरोध* किया। *स्त्रियों को स्वतंत्रता* दिलाई, *राजनैतिक स्वतंत्रता* पर बल दिया और हर प्रकार से आर्य जाति को फिर से उसके अतीत गौरव पर स्थापित करने का प्रयत्न किया।

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द धार्मिक एवं राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से देश-सेवा करने वाले कर्मठ संन्यासी थे। स्वामी जी की महानता उनके अपूर्व चरित्र-बल एवं महान् कर्म-शौर्य पर निर्भरथी। दिल्ली-जैसे विकट स्थान को अपना कर्म-क्षेत्र चुनकर गिरी और पिछड़ी हुई जनता में राष्ट्रीयता का अंकुर उत्पन्न करने का आपने अद्भुत साहस किया था, और अपने कार्य में एक सीमा तक सफलता भी प्राप्त की। आप एक उत्कट लेखक तथा सफल व्याख्याता भी थे। राष्ट्र-निर्माण के कार्य में जहाँ आपके प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा अटूट परिश्रम का योग था, वहाँ आपकी लोह लेखनी ने भी कुछ कम चमत्कार न दिखाया था।

स्वामी श्रद्धानन्द का जन्म पंजाब में तलवन नामक स्थान पर सन् १८५६ में हुआ था। उनके पिता ला० नानकचन्द शहर-कोतवाल थे। बाद में वे पुलिस इन्सपेक्टर बनकर बरेली चले गए। स्वामी जी का बचपन का नाम *मुन्शीराम* था, और संन्यास न लेने तक आप मुन्शीराम ही कहलाये।

बरेली में स्थायी नियुक्ति हो जाने पर ला० नानकचन्द ने अपने परिवार को बरेली ही बुलवा लिया। बालक मुन्शीराम की प्रारम्भिक शिक्षा बरेली में ही हुई। उन दिनों पुलिस-विभाग में उर्दू-फारसी का बोल-बाला था, अतः आपको भी फारसी ही पढ़नी पड़ी। कुछ दिनों पश्चात् ला० नानकचन्द बरेली से बदल कर बनारस आ गए। बनारस में मुन्शीराम को एक हिन्दी-स्कूल में भर्ती कराया गया।

तत्पश्चात् म्योर सेण्ट्रल कालिज इलाहाबाद में आपकी शिक्षा हुई।

संवत् १९३७ में मुन्शीराम जी लाहौर आकर कानूनी शिक्षा प्राप्त करने लगे। शिक्षा समाप्त करके जालन्धर में वकालत प्रारम्भ कर दी। लाहौर में रहते समय कई सभा-संस्थाओं से आपका सम्पर्क हो गया था। आर्य-समाज का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा इसी बीच आपने आर्य समाज के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था। परिणाम-स्वरूप आर्य समाज के प्रति आपकी अटूट श्रद्धा हो गई और आप आर्य समाज के कार्यों में भाग लेने लगे। उन्हीं दिनों महात्मा हंसराज ने लाहौर में ऋषि दयानन्द की स्मृति में *डी० ए० वी० कालिज* की स्थापना की, किन्तु उसके द्वारा संस्कृत में वैदिक-सिद्धान्तों का शिक्षण सम्भव न हो सका। अतः मुन्शीराम जी ने किसी ऐसे *गुरुकुल की स्थापना* का दृढ़ संकल्प किया, जिसके द्वारा मातृ-भाषा में वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा दी जा सके।

इसी बीच मुन्शीराम जी का विवाह भी हो चुका था। किन्तु गृहस्थ जीवन में आपकी विशेष रुचि न थी। आप प्रायः गृहस्थ के जंजाल से निकलने की सोचते रहते थे। ३१ अगस्त १८९१ को आपकी पत्नी का देहान्त हो गया। अब आपने पूर्ण रूप से सामाजिक कार्यों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया और ऋषि दयानन्द के वैदिक आदेश को पूरा करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। संवत् १९५२ में आप *पंजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभा* के प्रधान बनाये गये। आपने आर्य-समाज में फैले हुए विरोध एवं निर्बलताओं को दूर करने में दिन-रात एक कर दिया।

इस समय सरकारी शिक्षणालयों में पाश्चात्य भाषा और संस्कृति का बाहुल्य था। मुन्शीराम जी ने देश के युवकों में विशुद्ध भारतीयता व राष्ट्रीयता के विचारों को उत्पन्न करने के लिए संवत् १९५६ में *गुरुकुल कांगड़ी* की स्थापना की। यह पहला शिक्षणालय था जिसमें भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा-पद्धति के अनुसार मातृ-भाषा में *वैदिक-सिद्धान्तों*

की शिक्षा दी जाती थी। ८ अप्रैल १९१५ को महात्मा गान्धी ने गुरुकुल का निरीक्षण किया, गुरुकुल की ओर से गान्धी जी को मानपत्र दिया गया था। मुन्शीराम जी ने निरन्तर १५ वर्ष तक गुरुकुल की सेवा की और १९१७ में संन्यास लेकर *स्वामी श्रद्धानन्द* के नाम से प्रख्यात हुए।

इसके अतिरिक्त सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्वामी जी की सेवाएं अमूल्य हैं। देश उद्धार तथा जाति-सुधार का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं, जिसमें आपने योग न दिया हो। *राजनीति, समाज-सुधार, हिन्दी भाषा, अनाथ-रक्षा, अकाल, बाढ़, अछूतोद्धार* आदि सभी कार्यों में आप सबसे आगे रहते थे। १९१९ की *राजनीतिक हलचलों* में आपने सक्रिय भाग लिया। उन दिनों '*अनाथ*' दिल्ली को केवल आपका ही सहारा था। दिल्ली में सरकारी दमन-चक्र जोरों से था, कांग्रेस की ओर से जुलूस निकाले गए। जुलूस का नेतृत्व स्वयं स्वामी जी कर रहे थे। जब घण्टाघर के सामने जुलूस पहुँचा, तो गोरे सिपाही फायर करने को तैयार थे। स्वामी जी ने आगे बढ़कर छाती खोल दी और सिपाहियों को ललकारा—*लो, चलाओ गोलियाँ* आपकी यह वीरता और साहस देखकर सिपाही अवाक् रह गए। वास्तव में स्वामी जी एक साहसी और सच्चे वीर पुरुष थे।

अमृतसर-कांग्रेस में *स्वागताध्यक्ष* के पद से आपने हिन्दी में वह जोर-दार भाषण दिया था, जिसने जनता की आँखें खोल दीं। कांग्रेस के मंच से वेद मंत्रों का उच्चारण करते हुए, *ब्रह्मचर्य, नैतिकता, चरित्र-बल* और *अस्पृश्यता-निवारण* आदि का उपदेश देना आपका ही काम था। *पंजाब में हिन्दी-प्रचार* के जन्म-दाता भी आप ही थे। वास्तव में स्वामी जी की सेवाएं सर्वतोमुखी थीं। जिनका विशद वर्णन करने के लिए यहाँ स्थान नहीं।

स्वामी जी का जन्म *समाज-सुधार* के लिए ही हुआ था और समाज की वेदी पर ही उन्होंने अपने जीवन की आहुति चढ़ा दी।

महापुरुषों के जीवन का अन्त इसी प्रकार हुआ करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है।

एक दिन दिल्ली में आपके मकान पर अब्दुल रसीद नामक एक मुसलमान नवयुवक ने आपको गोली मार दी, यह वह मार्ग था जो संसार के प्रत्येक महापुरुष के लिए प्रशस्त किया गया है। उनके अन्तिम क्षणों में भी हमें स्वामी जी की उदारता का सुन्दर परिचय मिलता है—जब उन्होंने अपने वधिक को ठंडा पानी पिलाकर उसकी प्यास बुझाई और अन्त में उसकी प्यास बुझाने के लिए अपना रक्त तक उसे प्रदान कर दिया। स्वामी जी की मृत्यु पर देशव्यापी शोक मनाया गया और आर्य युवकों ने सजल लोचनों से आप अपने प्यारे नेता को श्रद्धांजलियाँ अर्पण कीं।

पाँच

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय

जिन मनुष्यों के मुख-मंडल पर सौम्यता, हृदय में दया, वाणी में अमृत और कार्यों में परोपकार की भावना रहती है, उन्हें सारा संसार नमस्कार करता है। मालवीय जी के व्यक्तित्व में इन समस्त गुणों का अद्भुत सामंजस्य था। वे प्राचीन हिन्दू सभ्यता के पुजारी तथा अतीत के प्रेमी थे, फिर भी वे नवीन का निर्माण करना चाहते थे। उनका उज्ज्वल चरित्र, दिव्य वाणी तथा अगाध पांडित्य सदैव वंदनीय था। उनके लिए हिंदुओं के हृदय में जो श्रद्धा एवं आदर है, वे शायद ही किसी अन्य नेता के लिए हो।

पं० मदनमोहन मालवीय का जन्म २५ दिसम्बर १८६१ को इलाहाबाद में हुआ। आपके पूर्वज मालवा के रहने वाले थे, जो बाद में इलाहाबाद में आकर बस गए। मालवीय जी के पिता पं० ब्रजनाथ संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे। उनकी माता श्रीमती मुन्नादेवी बड़ी सुशीला एवं धर्मपरायणा नारी थीं। योग्य माता पिता की संतान भी योग्य हुआ करती है। माता-पिता के संस्कारों की छाप मालवीय जी के जीवन पर अमिट रूप से पड़ी। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा प्रयाग में ही हुई। १८७९ में कलकत्ता मैट्रिक की परीक्षा पास करके १८८४ में म्योर कालिज इलाहाबाद से बी० ए० किया। तत्पश्चात् गवर्नमेंट स्कूल में ५०) मासिक पर अध्यापक हो गए।

अपने विद्यार्थी जीवन में ही आप सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने लगे थे। कालिज में पढ़ते समय अपने कुछ मित्रों की सहायता से आपने प्रयाग के महाजनी टोले में हिंदू-समाज की स्थापना की

थी। अपने स्वार्थ की ओर आपका इतना ध्यान न था, जितना लोक-सेवा की ओर।

सन् १८८६ में आप कलकत्ता में कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में सम्मिलित हुए। मालवीय जी में उत्साह भी था और विद्या भी थी। उठे, और एक व्याख्यान दे डाला। जब तक आपने भाषण दिया, श्रोता मन्त्र-मुग्ध बने रहे। जब बैठे तो करतल-ध्वनि से पंडाल गूँज उठा। उस अधिवेशन में काला काँकर के राजा रामपालसिंह भी विद्यमान थे। मालवीय जी के भाषण पर वे मुग्ध हो गए और उन्हें २००) मासिक पर अपने साप्ताहिक पत्र *'हिन्दुस्तान'* का सम्पादक नियुक्त कर दिया। मालवीय जी ढाई बरस (१८८७—८६) तक उक्त पत्र सम्पादन करते रहे।

१८६१ में मालवीय जी ने वकालत की परीक्षा पास की और थोड़े काल में ही अपनी योग्यता तथा वाक्पटुता से पर्याप्त धन कमाया। वकालत करते हुए भी आप लोक-सेवा के कार्यों में बराबर दिलचस्पी लेते रहे।

इसके अनंतर कांग्रेस के जो अधिवेशन मद्रास, बम्बई, कलकत्ता, नागपुर आदि में हुए उनमें भी आप बराबर अपने विचार प्रकट करते रहे। देश सेवा के कारण मालवीय जी पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे, इसलिए इन्हें *प्रान्तीय कौंसिल का सदस्य* बनने में कोई कठिनाई नहीं हुई। १६०२ से १६१२ तक आप प्रांतीय कौंसिल के सदस्य रहे। देशवासियों ने भी आपके गुणों को पहचान कर आपका यथेष्ठ सम्मान किया। १६०६, १६१२ तथा १६३३ में इन्हें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का *प्रधान* चुना गया था। १६०६ में *लाहौर-कांग्रेस* के प्रधान पद से आपने अत्यन्त प्रभावशाली भाषण दिया था। १६१२ में आप *दिल्ली-कांग्रेस* के प्रधान चुने गए थे। उस अधिवेशन में राजनीतिक बंदियों को मुक्त करने तथा दमनकारी कानूनों को वापस लेने के प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे।

१६१० से १६१६ तक मालवीय जी *व्यवस्थापिका-सभा* के सदस्य रहे। कौंसिल में आप बड़े साहस एवं निर्भीकता के साथ लोकमत का समर्थन करते रहे। आपने *रौलट-एक्ट* का घोर विरोध किया था। १६१० में जब पंजाब में अत्याचार करने वाले अधिकारियों को दण्ड से मुक्त करने का प्रस्ताव कौंसिल में प्रस्तुत हुआ, तो आपने उसका भी बलपूर्वक विरोध किया।

मालवीय जी में यह विशेष गुण था कि चाहे समर्थक हो या न हो, वे अपना विचार दृढ़ता-पूर्वक प्रकट कर देते थे। १६२० में जब कांग्रेस की आज्ञा से छात्रों नें स्कूलों और कालिजों का बहिष्कार किया, तो मालवीय जी इसके पक्ष में न थे। उनका विचार था कि शिक्षा-संस्थाओं से सरकार का कोई लाभ नहीं, अपने ही बच्चे साक्षर हो जाते हैं, इसलिए उनका बहिष्कार उचित नहीं। १६२१ में प्रिंस-ऑफ वेल्स भारत में आये तो कांग्रेस ने प्रत्येक स्थान पर उनका बायकाट किया, किंतु मालवीय जी ने उन्हें विश्व-विद्यालय में बुलाया और डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया। चाहे सारा संसार एक ओर हो और मालवीय जी अकेले दूसरी ओर, किंतु वे अपने निश्चय से तिल-भर भी न हिलते थे।

१ अगस्त १६२० को बम्बई में 'तिलक-दिवस' मनाया जा रहा था। पुलिस-अधिकारियों ने जुलूस को आगे बढ़ने से रोक दिया। मालवीय जी बोले—हम यहीं खड़े रहेंगे। अधिकारी ने पूछा—*कब तक?* उत्तर मिला—*जीवन के अन्तिम श्वास तक*। परिणाम यह हुआ कि मालवीय जी अन्य नेताओं के साथ पकड़ लिये गए, १५ दिन की क़ैद अथवा १००) जुर्माना हुआ। न जाने किसने मालवीय जी का जुर्माना दे दिया और वे मुक्त कर दिये गए।

१६३१ में आप *गोल मेज-परिषद्* में भाग लेने विलायत गये और वहाँ हर प्रकार से गांधी जी को सहयोग देते रहे। वे अपने साथ गंगाजल तथा अन्य खाद्य-पदार्थ लेते गए थे, जिससे वहाँ की दूषित

वस्तुओं का प्रयोग न करना पड़े। आपने वहाँ ईश्वर, हिंदू धर्म आदि विषयों पर जनता में अंग्रेजी में प्रभावशाली भाषण दिये।

इसके अनंतर आप १९३१-३२ में *दिल्ली* तथा *कलकत्ता कांग्रेस* के प्रधान चुने गए थे। आप नियत स्थान पर पहुँचने भी न पाते थे कि सरकार आपको गिरफ्तार कर लेती और दो चार दिन बाद पुनः छोड़ दिये जाते थे।

राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त मालवीय जी की देश को सबसे बड़ी देन *काशी का हिन्दू-विश्वविद्यालय* है। उसकी स्थापना से पूर्व सदा आप इस बात से दुखी रहते थे कि हिंदू नवयुवकों को *हिन्दू-आदर्शों* एवं *हिन्दू-संस्कृति* के अनुसार शिक्षा देने का कोई प्रबंध नहीं है। अतः इसके लिए आपने घोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। निरंतर कई वर्षों तक इधर उधर घूम-फिर कर अपनी अनुपम वाक् शक्ति तथा घोर परिश्रम द्वारा १ करोड़ रुपया एकत्र किया। ४ फरवरी १९१६ को बसंत पंचमी के दिन लार्ड हार्डिंग ने विश्वविद्यालय की आधार-शिला रखी। वास्तव में हिंदू विश्वविद्यालय आपकी आशा-वादिता एवं घोर परिश्रम का ज्वलंत प्रतीक है। आज उस विद्यालय में ४००० से अधिक छात्र-शिक्षा पा रहे हैं।

हिंदू समाज के साथ-साथ *हिन्दी भाषा* भी आपकी सेवाओं से वंचित न रही। बाल्यकाल से ही आपको हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि से प्रेम रहा है। अपने विद्यार्थी जीवन में आपने प्रयाग में *साहित्यिक-सभा* की स्थापना की १९०२ में आपने *अभ्युदय* और १९१० में *मर्यादा* मासिक पत्रिका निकालनी प्रारम्भ की थी। १९००में आपके सदूप्रयत्नों से अदालतों में उर्दू के साथ हिंदी को भी स्थान मिला। १९१० में आप *हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति* चुने गए थे।

मालवीय जी कट्टर-पंथी न थे। छूआछूत को आपने सदैव शास्त्रों के विरुद्ध बतलाया है। उन्होंने मारवाड़ियों के विरोध की

पर्वाह न करके १९२८ में कलकत्ता में ४०० अछूतों को *ॐ नमः शिवाय:* का मन्त्र दिया था।

कांग्रेस के साथ-साथ आपने हिंदू-महासभा के कार्यों में भी भाग लिया था। १९२२ में आप पूर्णतया हिंदू-महासभा में तन्मय हो गये थे। १९२६ में आपने और लाला लाजपतराय ने हिंदू महासभा की ओर में ही *नेशनलिस्ट पार्टी* की ओर से चुनाव लड़े थे। १९३४ में में आप *हिन्दू महासभा* के पूना-अधिवेशन के सभापति बने थे।

साम्प्रदायिक दंगों से आपके हृदय को गहरी चोट पहुँचती थी। जहाँ कहीं दंगा होता, आप तुरन्त वहाँ पहुँच कर पीड़ितों के घाव पर मरहम रखते थे। १९२४ में कोहाट तथा १९२६ में कलकत्ता आप इसी उद्देश्य से गये थे।

१९४६ में बंगाल में जो भीषण नर-संहार हुआ, उसका आपके कोमल हृदय पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। उस रक्तपात में हिन्दुओं पर जो बर्बरता एवं अत्याचार हुए, उसे देख सुनकर आप जीवित न रह सके और कुछ समय पश्चात् ही स्वर्ग सिधार गए।

मालवीयजी का स्वभाव अत्यन्त कोमल तथा विनम्र था। आप में *कर्तव्य परायणता, परोपकार, क्षमा, सत्यनिष्ठा, दानशीलता, निर्भीकता, समाज सेवा, धर्म-प्रेम* आदि गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण आप जनता और जनार्दन दोनों के प्रिय बने। भारतीय-स्वाधीनता के इतिहास में आपका नाम सदैव अमर रहेगा।

छः

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर

युगों के दौर में हज़ारों वर्षों की साधना के पश्चात् किसी देश अथवा जाति की अपनी आत्मा का सर्वोच्च साकार रूप देखने को मिलता है। भारतीय गगन मंडल में आकाश-क्षितिज और अंतरिक्ष में जब पतन, अपमान और असहनीय दुःखों की अन्धकारमयी रजनी छाई हुई थी, उस समय शत-शत सौभाग्य से हमारे भाग्याकाश में मंगलमय रवि का उदय ठाकुर रवीन्द्रनाथ के रूप में हुआ। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा और भावावेग से देश और जाति के संकीर्ण बंधनों को छिन्न-भिन्न कर विश्व के महामानव की वंदना की। मानव की तड़पती हुई आकांक्षाओं को उन्होंने भाषा प्रदान की, पद-दलित मानव की बुझती हुई आशा को छन्दों में ढाला और उसके पश्चात् आनन्द को हृदय की अंधेरी कंदरा से निकाल कर संगीत की सहस्र धाराओं में बहाया। मानव-महत्त्व के इस चिर-जाग्रत पुरोहित ने देश-देशान्तर में भ्रमण करके मानवता को दानवी शक्ति से छुटकारा पाने की अमर वाणी सुनाई। आप भारत के ही नहीं अपितु विश्व के सबसे महान् *कवि, संगीतज्ञ, चित्रकार, शिक्षा-शास्त्री* एवं *समाज-सुधारक* थे।

रवीन्द्रनाथ का जन्म ६ मई १८६१ को कलकत्ता के एक कलाप्रिय परिवार में हुआ था। उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि ब्रह्म-समाज के नेता थे। उनका जीवन ऐसा सादा तथा पवित्र था कि लोग उसे महर्षि कहा करते थे। उनके बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ दार्शनिक और गद्य-लेखक थे। तीसरे भाई आई० सी० एस० में लिए जाने वाले प्रथम

भारतीय होने के कारण प्रसिद्ध थे। इस प्रकार एक प्रख्यात परिवार में रवीन्द्र का जन्म हुआ था।

छोटी अवस्था में ही आप मातृ-प्रेम से हीन हो गये थे। बाल्यावस्था से ही रवीन्द्र को प्रकृति से प्रेम था। वे रीति-रिवाजों की तनिक भी परवाह न करते थे और स्वतंत्र स्वभाव के स्वामी थे। उन्होंने अपने प्रकृति-प्रेम के सम्बंध में स्वयं लिखा है—*मुझे हर सवेरा सुनहरी किनारे वाला लिफ़ाफ़ा-सा प्रतीत होता था जो मेरे लिए कोई अनसुना समाचार लाया हो।* बाल्यकाल में आपने प्रकृति से अपना सम्बंध स्थापित कर लिया था। आप न घर पढ़ाने वाले शिक्षकों की सुनते थे, और न विद्यालयों से ही प्रेम करते थे।

इसी बीच नगर में छूत और फूट पड़ने के कारण आपको बोलपुर गाँव में भेज दिया गया। वहाँ जाकर आपके जीवन में अपूर्व परिवर्तन हुआ। आप गाँव-भर का भ्रमण करके गरीब लोगों से मिलते-जुलते और उनके सुख दुःख में सहयोग देते थे। प्रकृति के संगीत में आप अधिक-से-अधिक रत रहा करते थे। वहाँ उनमें अपने भाव प्रकट करने की प्रबल प्रेरणा उत्पन्न हुई। उनकी आत्मा से ऐसी *कविता का प्रवाह* स्वयं ही फूट पड़ा, जो *सादगी, मधुरता, संगीत* और *भोलेपन* से परिपूर्ण थी।

रवीन्द्र की शिक्षा घर पर ही हुई। उनके पिता ने उन्हें स्कूल भेजने का हठ कभी न किया। परन्तु आपके सम्बंधी चाहते थे कि रवीन्द्र उच्च शिक्षा पाकर कोई डिग्री प्राप्त करे। इसी उद्देश्य से १८७७ में आपको इंग्लैंड भेजा गया; किंतु आप वर्ष भर बाद कोरे लौट आये। एक बार पुनः इंग्लैंड भेजा गया था कि कानन पढ़ आएं, किंतु वे पूर्ववत् ज्यों-के-त्यों वापस आ गए। इंग्लैंड से आकर आप पूर्णतथा साहित्य में लीन हो गए।

२२ वर्ष की अवस्था में रवीन्द्र का विवाह हो गया। उसी समय पिता ने अपनी जमींदारी की देख-भाल के लिए आपको शिलैडा जाने

की आज्ञा दी। सभ्यता की परस्पर विरोधी विचारा-धाराओं से दूर जा पड़ने पर भी शिलैडा के निवास ने आपकी कला को गम्भीर बनाने में सहायता दी। वहाँ प्रौढ़ अवस्था में पहली बार साधारण लोगों से आपका मेल-जोल हुआ। वहां आपको जीवन का विविध और गम्भीर ज्ञान प्राप्त हुआ। आपने अपनी कई उत्तम कहानियों की रचना इसी काल में की थी। *'साधना'* नामक पत्रिका का आरम्भ भी इसी काल में किया, जोकि लगभग २० वर्ष तक उनके विचारों के प्रकाशन का प्रधान साधन रही। आज भी वह अपने ढंग की सर्वोत्तम पत्रिका है। इसी पत्रिका में प्रकाशित आपके *उत्तम तत्वों की डायरी* नाम के लेखों में भारत के वर्तमान राजनीतिक विचारों का दिग्दर्शन होता है।

शिलैडा गंगा और ब्रह्म पुत्र के संगम पर एक बहुत ही रमणीक स्थान है। वहाँ के प्राकृतिक दृश्य बड़े हृदय-ग्राही तथा मनमोहक है। दूर दूर तक ज़मीनें बिखरी हुई थीं। उनकी देख-भाल के लिए रवीन्द्र को नौका पर चढ़कर जाना पड़ता था, और उसमें उन्हें बड़ा आनन्द मिलता था। उन्होंने ज़मीनों का प्रबंध भली भाँति किया। खेती मे नवीन साधनों का प्रयोग किया, किसानों की स्वच्छता और स्वास्थ्य सुधारा, किराये क्षमा कर दिए और उनके बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल का प्रबंध किया। आप किसानों से मिलते-जुलते रहते थे और उनके दु:ख-सुख में सम्मिलित रहते थे। इस प्रकार से उनके मित्र और पथ-प्रदर्शक बन गए।

शिक्षा के सम्बंध में उनकी एक निश्चित धारणा थी, जिसे उन्होंने *शांति-निकेतन* के रूप में साकार मूर्तिमान किया। शांति-निकेतन उन इनी-गिनी भारतीय संस्थाओं में से एक है जिनमें प्राचीन भारतीय संस्कृति को, वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल बनाकर, पूर्ण शिक्षा पद्धति से आधार-शिला बनाया गया है। यह वह संस्था है जहां पर कवीन्द्र *ईश्वर*, *प्रेम*, और *कला* के आदर्शों द्वारा छात्रों को उन्नति का मार्ग दिखाया करते थे। वहाँ के बच्चे प्रकृति माता की गोद में खेला-

पढ़ा करते हैं। वहाँ के स्नातक अपनी *सादगी, पवित्रता, धार्मिकता प्रकृति-प्रेम* और *देश-भक्ति* के कारण प्रसिद्ध हैं। उनमें *पूर्व* और *पश्चिम* दोनों की सभ्यताओं के सर्वोत्तम गुणों का मेल होता है। उनमें पूर्व *का भक्तिपूर्ण रहस्यवाद* और *पश्चिम की शान्त यर्थाथता* पाई जाती है, उस संस्था की कार्य-प्रणाली यही है।

१६०२ में रवीन्द्र पर आपत्तियों का पर्वत टूट पड़ा। उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। उन्हें चिंताओं ने आ घेरा। संसार अंधकारपूर्ण दिखाई देने लगा। वे अपने पुत्र और क्षय रोग से पीड़ित पुत्री को लेकर एकांत-सेवन के लिए पहाड़ियों पर चले गए। वहां उन्होंने अपनी पत्नी की स्मृति में अत्यन्त करुणा जनक और कमनीय कविताएं लिखीं, जो *स्मरण* में संकलित हैं। उसके पश्चात् *माली चन्द्रकला*' और *गीतांजलि* की रचना हुई।

इसके अनतंर रवीन्द्र रुग्ण हो गए और उन्हें विदेश जाने की सलाह हो गई। १६२१ में वे इंग्लैंड लिए चल पड़े। उनका यश उनसे पहले ही वहाँ पहुंच गया था। वे जहां भी गए, वहीं उनका उचित स्वागत हुआ। उन्हों ने अमरीका में वर्ष भर रहकर *माली* और *चन्द्रकला* का अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित कराया। अगले वर्ष जब उन्हें '*गीतांजलि*' पर *नोबल पुरस्कार* प्राप्त हुआ, तब संसार में उनकी महान साहित्यिक प्रतिभा को पहचाना। १६१४ में भारत-सरकार ने उन्हें '*सर*' की उपाधि द्वारा सम्मलित किया किंतु १६१६ में *जलियांवालाबाग में* जब सरकार द्वारा बर्बरतापूर्ण-नर-संहार किया गया तो उन्होंने अत्यन्त ज़ोरदार शब्दों में सरकार के अत्याचार की निंदा करते हुए विरोध प्रकाशन के रूप में '*सर*' *की उपाधि का परित्याग कर दिया।*

रवीन्द्र ने भारतीय राष्ट्र-निर्माण के लिए चहुँमुखी प्रयत्न किया। एक सच्चे समाज के लिए उन्होंने कहा था—*जब तक हम स्त्रियों और अछूतों को साथ न ले गए तबतक हमारा विकास अधूरा रहेगा। कारण*

जब हम ऊंचे चढ़ेंगे, तब वे नीचे से पांव पकड़कर हमें भी नीचे की ओर खींच लेंगे। क्योंकि सशक्त के लिए अशक्त और निर्बल उसी प्रकार खतरनाक है, जिस प्रकार हाथी के लिए बालू। वे प्रगति में सहायक नहीं होते, क्योंकि वे विरोध नहीं करते; वे केवल पतन के नीचे उतार लाते हैं।

स्वतंत्रता के वे पूर्ण तथा समर्थक थे। उन्होंने समय-समय पर *भारतीय-स्वतंत्रता* का खुले शब्दों में समर्थन किया था और विदेशियों की कड़ी-से-कड़ी अलोचना करने नहीं चुके थे।

रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व बड़ा प्रभाशाली था। वे अपने लम्बे रेशम से केशों, लहराती हुई दाढ़ी और ऊंची पतली काया के कारण प्राचीन भारत के ऋषियों के समान जान पड़ते थे। उनका *स्वभाव धार्मिक, हृदय-विशाल*, और *विचार उदार* थे। आपत्ति के समय वे प्रभु-इच्छा के सम्मुख शान्ति पूर्वक शीस झुका देते थे। उनका जीवन सभी के आदर्श और अनुकरणीय जीवन था। उन्होंने उस प्राचीन भारतीय संस्कृति को पुनः जीवित कर दिखाया, जो लग-भग मर चुकी थी। अगस्त १९४१ में उनके देहांत से जो स्थान खाली हुआ है उसकी पूर्ति शताब्दियों में भी कठिनता से होगी।

सात

महात्मा हंसराज

भारत के शिक्षा-शास्त्रियों में महात्मा हंसराज का एक विशेष स्थान है। शिक्षा के लिए किया गया उनका त्याग अनुपम है। आप पवित्रता एवं सादगी की मूर्ति थे। आपने बाल्य काल से ही समाज-सेवा का व्रत लेकर आजीवन उसे निभाया। दीन हीन समाज की अवस्था देख-कर आप व्यग्र हो उठते थे और सच्ची सहानुभूति एवं संलग्नता से उसकी सेवा में रत हो जाते थे। आपके द्वारा शिक्षा-प्रसार का एक महान् कार्य सम्पन हुआ। पूर्वी पंजाब। और युक्त प्रान्त में फैला हुआ डी० ए० वी० कालिज और स्कूलों का जाल की इस कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पर्याप्त है।

१२ अप्रैल १८६४ में इस महान् आत्मा का जन्म एक निर्धन परि-वार में हुआ। आपके पिता का नाम चुन्नीलाल और माता का नाम श्रीमती हरदेवी था। १० वर्ष की छोटी अवस्था में ही माता-पिता की छत्र-छाया आपके सिर से उठ गई। सारे परिवार का भार बड़े भाई मुल्कराज के सिर आ पड़ा; उन्होंने योग्यता पूर्वक अन्त तक अपने कर्तव्य का पालन किया। हंसराज जी की प्रारम्भिक शिक्षा लाहौर के मिशन स्कूल में हुई। आपकी विलक्षण बुद्धि का स्पष्ट परिचय विद्या-काल से ही मिलता था। अपनी श्रेणी में आप सदा सर्व प्रथम रहते थे। *आर्य धर्म* और *संस्कृति* में आपको बाल्यावस्था से ही अनुराग हो गया था। एक बार स्कूल के हैडमास्टर ने आर्य सभ्यता पर अनु-चित कटाक्ष किये, आपने तो निर्भीकतापूर्वक उनका घोर विरोध किया, जिसके परिणामस्वरूप आपको दो दिन के लिए स्कूल से निकाल दिया गया था।

सन् १८८० में आपने मिशन-स्कूल से मैट्रिक पास किया और उसी वर्ष *गवर्नमेंट कालिज* में प्रविष्ट हुए। कालिज में *ला० लाजपतराय* और *पं० गुरूदत्त विद्यार्थी* जैसी महान् आत्माओं का साहचर्य मिला। बी० ए० में आपका पंजाब-भर में द्वितीय स्थान रहा। उपरोक्त तीनों महापुरुषों के हृदयों में आर्य सभ्यता के स्थान और प्रसार के लिए आत्म-समर्पण की ज्योति यहीं पर जागृत हुई। कालिज-जीवन में आप ने पं० गुरूदत्त के साथ मिलकर एक साप्ताहिक पत्र *रेजेन्टर आफ आर्यजगत्* का सम्पादन किया था। आपके इन समय के लेखों में में ही आर्य जगत् में हल-चल मचा दी थी। १८९२ में ला० लाजपत-राय के सहयोग में *'आर्यगजट'* का सम्पादन भी आपने किया था। इस समय आप बी० ए० पास कर चुके थे।

सन् १८८३ में आर्य-समाज के संस्पाथक महर्षि दयानन्द स्वामी का देहावासन हो गया। उनकी पवित्र स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने के लिए लाहौर में *दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालिज* बनाने का निश्चय किया गया, किन्तु इसके लिए पर्याप्त धन न था। हंसराज जी अपने साथियों के साथ मिलकर इसके लिए प्रथम परिश्रम करने लगे। अन्त में १८८६ में आपका स्वप्न पूरा हुआ और लाहौर में डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना की गई। आपने अपने बड़े भाई से अनुमति लेकर अपनी अवैतिनक सेवाएं स्कूल के लिए समर्पित कर दीं। आप स्कूल के हैडमास्टर बने। दो वर्ष पश्चात् ही स्कूल कालिज के रूप में परि-वर्तित हो गया और १८९४ में बी० ए० तक की श्रेणियाँ खुल गईं। महापुरुषों में उत्साह और लगन होती है तथा साथ ही अध्यवसाय की दृढ़ता। और अध्यवसाय ही किसी कार्य में सफलता प्राप्त करने के दो मूलमंत्र हैं। महात्मा हंसराज में ये दोनों गुण प्रचुर मात्रा में विद्य-मान थे। आपके सद्प्रयत्नों से १८९६ में जालन्धर में और १८९८ में होशियारपुर में भी डी० ए० वी० कालिजों स्कूलों का जाल-सा बिछा है। इनकी नींव को महात्मा हंसराज ने अपने रक्त से सींचा था।

यह बात भारतीय शिक्षण-क्रान्ति के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी।

महात्मा हंसराज जी का सिद्धान्त था कि दूसरों को शिक्षा देने तथा सर्व साधारण में सच्चे ज्ञान का प्रसार करने के लिए पहले स्वयं ज्ञान-रत्नों की प्राप्ति की जाय। इस उद्देश्य से अन्य सब कार्यों को करते हुए भी उन्होंने स्वयं *संस्कृत* भाषा पढ़ी और *वेद-शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन* किया। आपका त्याग कालिज में अवैतनिक कार्य करते रहने तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत आपका समूचा जीवन एक आदर्श त्यागी और तपस्वी का ज्वलन्त उदाहरण था। आपके रहन-सहन एवं खान-पान में पूर्ण सादगी झलकती थी। *स्वदेशी का व्रत* तो आपने तब से ले रखा था, जब इसका कोई नाम भी नहीं जानता था।

महात्मा हंसराज में एक सर्वोत्तम गुण था—*ईश्वर पर दृढ़ विश्वास*। जीवन में अनेक आपत्तियाँ आने पर भी आपने अपने इस विश्वास को नहीं छोड़ा। १६१४ में आपके बड़े पुत्र बलराज को *लाहौर षड्-यन्त्र केस में* कालेपानी को सज़ा हुई और उन्हीं दिनों आपकी पत्नी का देहावसान हो गया, किंतु आप इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए और धैर्य पूर्वक अपना कार्य करते रहे। *नम्रता* और *सेवा भाव* तो आप में कूट-कूट कर भरा था।

महात्मा हंसराज ने अपना समस्त जीवन *जनसेवा* में ही व्यतीत कर दिया। जब कांगड़ा और गढ़वाल में अकाल पड़ा तो आप तुरन्त वहां पहुंचे और अकाल-पीड़ितों की सहायता में दिन रात एक कर दिया। *मोपला युद्ध* के समय आपने आहत हिंदुओं की भरसक सहायता की। ऋषि दयानन्द के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में आप सतत प्रयत्न शील रहे। १६ नवम्बर १६३८ को आपकी मृत्यु हो गई और पंजाब की भूमि से एक सच्चे कर्मयोगी-जीवन का आदर्श उपस्थित करने वाला व्यक्ति उठ गया। वास्तव में आपका जीवन *पवित्र, उज्ज्वल एवं अनुकरणीय था*।

एक

डाक्टर सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन्

भारतीय वैज्ञानिकों में सर वेंकट रामन् का स्थान सबसे ऊँचा है। विज्ञान संसार में यथेष्ट ख्याति अर्जित कर लेने के पश्चात् एक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक की हैसियत से विदेशों की यात्रा करने वाले तथा विज्ञान-कला में *नोबल-पुरस्कार* प्राप्त करने वाले आप एक-मात्र भारतीय हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धान आरम्भ करते समय उन्हें न तो किसी से प्रेरणा ही मिली, और न किसी से सहायता ही प्राप्त हुई, अपने व्यक्तिगत परिश्रम, अध्यवसाय, उत्साह तथा असाधारण प्रतिभा के बल पर ही आज आप इतने महान् वैज्ञानिक हो सके हैं। आपने अपनी अन्तः प्रेरणा से ही विज्ञान-साधना आरम्भ की, और स्वयं असाधारण महत्त्व के अनुसन्धान तथा अन्वेषण करके संसार में भारतीय वैज्ञानिकों का मस्तक ऊँचा उठाया है।

सर वेंकट रमन् का जन्म १७ नवम्बर १८८८ ई० को दक्षिण भारत के *त्रिचनापली* नामक नगर में हुआ था। आपके पिता पं० चन्द्रशेखर अय्यर भौतिक विज्ञान के पण्डित थे। बालक वेंकट रमन् के जन्म के पश्चात् वे त्रिचनापली छोड़कर *विजगापट्टम* चले गए और वहाँ के *हिन्दू-कालिज* में भौतिक विज्ञान के लैक्चरार नियुक्त हुए। यहाँ श्रीनिवास आयंगर से उसकी मित्रता हो गई, जो उक्त कालिज में अंग्रेजी के शिक्षक थे। इन दोनों विद्वानों के संरक्षण में बालक वेंकट रमन् की शिक्षा प्रारम्भ हुई। श्री आयंगर के संसर्ग से वेंकट रमन् ने बहुत थोड़ी आयु में ही अंग्रेजी भाषा पर उल्लेखनीय अधिकार प्राप्त कर लिया। अपने पिता से उन्होंने *विज्ञान-प्रेम* का पाठ सीखा।



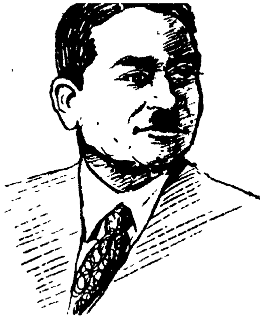
डाक्टर सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन्



विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु



डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय



डाक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर



डाक्टर मेघनाथ साहा



श्रीनिवास रामानुजन्

बाल्यकाल में ही गहन वैज्ञानिक विषयों में अभिरुचि रखने लगे। इस छोटी अवस्था में ही विज्ञान से उन्हें इतना मोह हो गया कि उसके मुकाबले में अन्य विषयों को पढ़ने का अवकाश निकालना भी कठिन हो जाता। हाई स्कूल कक्षाओं में पहुँचकर बालक रमन् ने विज्ञान के कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को समाप्त कर डाला था। १२ वर्ष की आयु में ही उन्होंने *मैट्रिकुलेशन* परीक्षा सम्मानपूर्वक पास की और दो वर्ष पश्चात् ही विश्वविद्यालय की *एफ० ए०* की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर विश्वविद्यालय में अच्छा स्थान प्राप्त किया। एफ० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् आपने मद्रास के *प्रेसीडेंसी कालिज* में प्रवेश किया। आपकी असाधारण योग्यता एवं परिपक्व ज्ञान को देखकर कालिज के सभी प्रोफेसर आश्चर्य-चकित रह गए। कालिज में आपने अपना विषय *भौतिक-विज्ञान* ही रखा। अध्ययन के साथ-साथ आप कालिज की *प्रयोगशाला* में मनचाहे प्रयोग भी करके देखने लगे।

१९०४ ई० में वेंकट रमन् ने विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा बहुत सम्मान के साथ पास की। विश्वविद्यालय की ओर से आपको कई पारितोषिक और पदक प्रदान किये गए। बी० ए० करने के पश्चात् आपने प्रेसीडेंसी कालिज से ही *भौतिक विज्ञान* में एम० ए० की परीक्षा पास की। इस परीक्षा से पूर्व ही आपने मौलिक अन्वेषण कार्य करने की क्षमता का अच्छा परिचय दिया था। परीक्षा पास करने से पूर्व ही आपके दो *लेख* लन्दन से प्रकाशित होने वाली प्रतिष्ठित *वैज्ञानिक पत्रिकाओं* में प्रकाशित हो चुके थे।

विद्यार्थी-काल में ही वेंकट रमन् ने *वर्णपट-मापक* तथा *शब्द-विज्ञान* पर दो नवीन प्रयोगों की खोज करके संसार-भर के वैज्ञानिकों को चकित कर दिया था। विश्व-विख्यात वैज्ञानिक *लार्ड रैले* ने भी विद्यार्थी रमन् की मुक्त कंठ से प्रशंसा की थी। विश्वविद्यालय में इतनी असाधारण योग्यता का परिचय देने के उपलक्ष्य में शिक्षा-

धिकारियों ने श्री रमन् को भौतिक विज्ञान का विशेष अध्ययन करने के लिए बिलायत भेजने की सरकार से सिफारिश की। सरकार ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और छात्रवृत्ति देने की स्वीकृति भी दे दी। परन्तु डाक्टरों ने उनके शरीर और स्वास्थ्य को समुद्र-यात्रा के अयोग्य बतलाया और वे विलायत न जा सके। वास्तव में श्री रमन् बचपन से ही दुबले पतले और कमजोर शरीर के थे।

विलायत न जा सकने पर श्री रमन् को कोई निराशा न हुई। उन दिनों अधिकांश ऊँची सरकारी नौकरियों के लिए इंगलैंड जाना अनिवार्य था। विज्ञान-साधना में लगकर आजीविका-उपार्जन करना भी सम्भव न था। केवल *अर्थ विभाग* ही की प्रतियोगिता परीक्षा में बिना विलायत गये सम्मिलित हुआ जा सकता था। अतः रमन् ने उक्त परीक्षा देने का निश्चय कर लिया। इसके लिए आपको साहित्य, इतिहास, राजनीति और संस्कृत-जैसे सर्वथा नवीन विषयों का अध्ययन करना पड़ा। किन्तु अपनी अनुपम योग्यता तथा कुशाग्र बुद्धि के कारण आप प्रतियोगिता-परीक्षा में भी सर्व *प्रथम श्रेणी* में उत्तीर्ण हुए। इस समय आपकी अवस्था बीस वर्ष की थी। परीक्षा के परिणाम के अनुसार भारत-सरकार ने आपको अर्थ विभाग में *डिप्टी एकाउण्टेण्ट जनरल* के उत्तरदायित्व पूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया।

सरकारी पद पर नियुक्त होते ही आपका विवाह भी बहुत शीघ्र ही हो गया। दस वर्ष तक श्री रमन् भारतीय अर्थ विभाग में विभिन्न उच्च पदों पर कार्य करते रहे। थोड़ी आयु होते हुए भी आपने अपने कर्त्तव्य तथा पद के उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाया। सरकारी अफसरों ने आपने कार्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। अपने अफसरी काल में भी आप बराबर वैज्ञानिक अनुशीलन का कार्य करते रहते थे।

अपने अफसरी-काल में ही आप कलकत्ता में *इण्डियन एसोसिएसन फार दि कल्टीवेशन आफ साइंस* (भारतीय विज्ञान-परिषद्) के

सदस्य बन गए। आपके सहयोग से एसोसिएसन की गणना संसार के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक-संस्थाओं में की जाने लगी। आपने एसोसिएसन की प्रयोगशाला में जो अनुसंधान कार्य किये, उनके विवरण *बुलेटिन* के रूप में प्रकाशित किये जाने लगे। इसे एसोसिएशन की ख्याति भारत में नहीं, समस्त संसार में फैल गई। एसोसिएशन के सम्पर्क से श्री रमन् को भी यथेष्ट लाभ हुआ। एसोसिएशन को एक अच्छे वैज्ञानिक की आवश्यकता थी, और रमन् को एक सम्पन्न प्रयोगशाला की। बराबर बीस वर्ष तक श्री रमन् इस एसोसिएशन को योग देते रहे और अपने *नवीन अनुसन्धानों* द्वारा वैज्ञानिक जगत् में *नवीन आविष्कारों* की अभिवृद्धि करते रहे।

सन् १९१४ में सर आशुतोष मुकर्जी ने तारकनाथ पालित तथा डा० रासबिहारी घोष की सहायता से कलकत्ता में '*साइन्स कालिज*' की स्थापना की और श्री रमन् को उस कालिज में विज्ञान का आचार्य नियुक्त किया। श्री रमन् सरकारी नौकरी को तिलांजलि देकर आचार्य पद पर सुशोभित हुए। १९१७ से १९३२ तक निरन्तर १५ वर्ष तक *कलकत्ता-विश्वविद्यालय* और *साइन्स एसोसिएशन* के अनुसन्धान कार्य का नेतृत्व करते रहे। इस बीच आपने जो महत्वपूर्ण कार्य किये उनके आपकी कीर्ति संसार-भर में फैल गई और साथ ही भारत का मुख भी उज्ज्वल हुआ।

डा० रमन् का सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक कार्य 'रमन् प्रभाव' की खोज है। इसकी गणना संसार के कुछ उत्कृष्ट वैज्ञानिक सन्धानों में की जाती है। रमन् महोदय के इस कार्य को संसार-भर के वैज्ञानिक बड़ी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। अपने इस अनुसन्धान द्वारा रमन् ने यह सिद्ध किया कि *काश का रंग परिक्षेपण के पश्चात् बदल जाता है।*

शब्द-विज्ञान के सम्बन्ध में आपने अनेक खोजपूर्ण बातों का स्पष्टीकरण किया है। *कोलाहल* और *वाद्य-यंत्रों की ध्वनि एवं संगीत*

आदि ने अध्ययन के लिए कई नवीन यंत्रों का आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त इन सम्बन्ध में आपने जो कार्य किये उनमें *सेंट पाल गिरजाघर*, कलकत्ता के *विक्टोरिया मेमोरियल* पटना के खलिहान के *उपांशुवादी गुम्बदों* का अध्ययन मुख्य है। संसार-भर में आप शब्द-विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् माने जाते हैं।

प्रकाश और रंग के बारे में भी आपकी खोज महत्त्वपूर्ण हैं। आकाश में *कुहरा* और *हलके बादलों* द्वारा बने हुए रंगीन किरीट और *इन्द्र धनुषों* की व्याख्या इस विषय के उल्लेखनीय कार्य है। प्रकाश के आणुविक विवर्त्तन सम्बन्धी अन्वेषण से आपने सिद्ध कर दिया है कि न केवल पारदर्शक द्रव्यों में प्रत्युत बर्फ और स्फटिक-जैसे ठोस पारदर्शक पदार्थों में भी अणुओं की गति के कारण प्रकाश का परि-क्षेपण होता है। परिक्षिप्त प्रकाश की तीव्रता और आचरण किसी द्रव्य अथवा वायव्य पदार्थ में अणुओं की संख्या का गिनना और उसकी गति का ज्ञान प्राप्त करना भी सम्भव है।

इन अन्वेषणों के अतिरिक्त आचार्य रमन् ने भौतिक विज्ञान की प्रायः प्रत्येक शाखा में अनेक महात्वपूर्ण अनुसिन्धान किए हैं। और सबमें उन्हें आशातीत सफलता मिली हैं। अपनी महात्वपूर्ण विज्ञान साधना और सेवाओं के लिए आपको संसार के सभी सभ्य देशों में यथेष्ट यश और सम्मान मिला है। १९२२ में आप *आक्सफोर्ड* में होने वाली ब्रिटिश साम्राज्य के विश्व-विद्यालयों की *कांग्रेस* में सम्मिलित हुए। १९२४ में लन्दन की विश्व-विख्यात-विज्ञान-संस्था *रायल सोसायटी* ने आपको अपना *फेलो* मनोनीत किया। १९२८ में इटली की विज्ञान-परिषद् ने आपको *मेथ्यूसी* पदक प्रदान किया। १९२४ में *इंडियन मेथेमेटिकल सोसायटी* के फैलो मनोनीत हुए। इसी वर्ष ब्रिटिश सरकार ने आपको सर की उपाधि से सम्मानित किया १९३० में *ज्यूरिय की फ़िज़ीकल सोसायटी* ने आपको अपना आनरेरी फैलो बनाया। इसी वर्ष रायल सोसायटी की ओर से ह्यूजेज पदक से आपको सम्मा-

नित किया गया। इसके अतिरिक्त अनेक देशी और विदेशी विश्वविद्यालयों ने अपनी डिग्रियाँ देकर आपको सम्मानित किया। १९३० में *रमन् प्रभाव* के आविष्कार के उपलक्ष्य में आप को भौतिक विज्ञान का *नोबल पुरस्कार* मिला इस अवसर पर भारत में अत्यन्त आनन्द और हर्ष प्रकट किया गया था।

सर वेंकट रमन् ने अनेक बार विदेशों की यात्रा की। लगभग सभी सभ्य देशों की वैज्ञानिक संस्थाओं ने आपको अपने देश में बुला आपका विशेष सत्कार किया। संसार की बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक संस्थाओं के सम्मेलनों और अधिवेशनों में आपने भाग लिया है। जहाँ आपने एक विश्व विख्यात वैज्ञानिक के रूप में अपार यश प्राप्त किया है वहाँ भारत के गौरव को भी बढ़ाया है।

आजकल आप कलकत्ता विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करनेके बंगलौर की सुविख्यात *इंडियन इंस्टिट्यूट आफ साइंस* में अनुसन्धान कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं। यह संस्था भारत की वैज्ञानिक संस्थाओं में अग्रगण्य है। १९३२ से १९३७ तक आप इस संस्था के डायरेक्टर भी रह चुके हैं। इस संस्था में भारत के विभिन्न प्रान्तों के अनेक विद्यार्थी आपके नेतृत्व में अन्वेषण कार्य में संलग्न हैं।

इतने महान् वैज्ञानिक होते हुए भी सर वेंकट रमन की विनम्रता और सादगी में कोई अन्तर नहीं आया है। आपकी साधारण, नियमित तथा संयमपूर्ण दिनचर्या अनुकरणीय है। आप अपना जीवन विशुद्ध भारतीय विद्वानों के समान सादगी से व्यतीत करते हैं और दिन रात विज्ञान-साधना में एक तपस्वी की भाँति रत रहते हैं। अभी देश को आपसे बहुत कुछ आशाएं हैं।

दो

विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु

आज की दुनिया में जिन कतिपय प्रतिभाशाली भारतीय महापुरुषों ने मानव-ज्ञान के भण्डार को अपनी प्रतिभा एवं मनस्विता से समृद्धिशाली बनाया है, विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु उन्हीं में से एक थे। उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया। उन्होंने विज्ञान-जगत् में नवीन प्रकाश की ज्योति फैलाकर नये ज्ञान को जन्म दिया और उनके कार्यों से प्रेरणा पाकर विज्ञान-संसार में एक सर्वथा नवीन युग का प्रादुर्भाव हुआ है। इस बात से सभी सहमत हैं कि वे *वनस्पतियों के शरीर-धर्म विज्ञान के सबसे महान् विद्वान् थे* और संसार के महत्तम वैज्ञानिकों में उनका भी स्थान था।

जगदीशचन्द्र वसु का जन्म ३० नवम्बर १८५८ ई० को बंगाल के ढाका जिले के विक्रमपुर क़स्बे के निकट *राढ़ीखाल* नामक ग्राम में मध्यम श्रेणी के एक प्रतिष्ठित बंगाली परिवार में हुआ था। उनके पिता बाबू भगवानचन्द्र वसु फरीदपुर जिले में डिप्टी कलक्टर थे। वे बड़े साहसी, दृढ़ संकल्पी तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति थे। उनकी माता जी भारतीय संस्कृति से प्रेम रखने वाली एक भद्र महिला थीं। बालक जगदीश की प्रारम्भिक शिक्षा एक ग्रामीण पाठशाला में हुई। बचपन से ही उनको प्राकृतिक जन्तुओं को देखकर उनके बारे में सोचने का शौक था। बाल्यकाल ही से उनकी प्रवृत्ति *विज्ञान और आविष्कार* की ओर थी। पिता भी पुत्र की प्रवृत्ति को भाँप गए थे। उन्होंने सुयोग्य

पुत्र की इस प्रवृत्ति के विकास का यथासम्भव पूरा-पूरा ध्यान रखा।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके उन्होंने कलकत्ता के *सेंट जेवियर स्कूल* से मैट्रिक पास किया और फिर उसी कालिज से बी० ए० की परीक्षा पास की। इस कलिाज में आपको सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री और वैज्ञानिक *फ़दार लेफान्ट* के सम्पर्क में रहने का अवसर मिला; जिससे आपकी अभिरुचि भौतिक-विज्ञान की ओर और भी झुक गई और आप भौतिक विज्ञान के रोचक और आकर्षक प्रयोगों का दर्शन करने लगे।

इसके पश्चात् जगदीश उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिए इंग्लैंड गये और *औषधि-विज्ञान* (मैडीसन) का अध्ययन करने के उद्देश्य से *लन्दन मैडीकल कालिज* में भर्ती हो गए। परन्तु डाक्टरी का चीर फाड़ का कार्य आपको पसन्द न आया और आपने मैडिकल कालिज से अलग होकर *विशुद्ध विज्ञान* के अध्ययन का निश्चय किया और *कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय* में नाम लिखाया। १८८४ में उन्होंने *रसायन* और *वनस्पति* विज्ञान में बी० ए० की परीक्षा पास की और अगले वर्ष लन्दन-विश्वविद्यालय से *बी० एस-सी०* की उपाधि प्राप्त करके सम्मानपूर्वक स्वदेश लौटे।

भारत में आकर वे कलकत्ता के *प्रेसिडेन्सी कालिज* में प्रोफेसर नियुक्त होगए। सरकार उन दिनों यूरोपियनों का अधिक सम्मान करती थी और भारतीयों को उनकी अपेक्षा दो-तिहाई कम वेतन मिलता था। साथ ही यह भी माना जाता था कि भारतीय लोग वैज्ञानिक विषयों को पढ़ाने में अयोग्य हैं। जगदीशचन्द्र को यह बातें बहुत अखरीं। उन्होंने विरोध-प्रकाशन के रूप में तीन वर्ष तक वेतन न लिया और बड़ी लगन और उत्साह से अपना कार्य करते रहे। अन्त में कालिज के अधिकारी आपके कार्य से बड़े प्रसन्न हुए और आपको पिछले तीन वर्षों का वेतन यूरोपीयों के समान ही दे दिया गया।

कालिज में प्रयोगशाला का भी उचित प्रबन्ध न था। आपने आर्थिक कठिनाई का सामना करते हुए भी अपने घर पर *निजी प्रयोगशाला* बनाई और उसी में अनुसंधान करने लगे। संसार के दूसरे अग्रगण्य वैज्ञानिकों की भाँति आपका ध्यान भी *विद्युत् चुम्बकीय तरंगों* सम्बंधी हर्ज के प्रयोगों की ओर आकर्षित हुआ। उन दिनों इन प्रयोगों ने विज्ञान-संसार में बड़ी हलचल मचा रखी थी। आपने बड़ी लगन के साथ इन तरंगों के सम्बंध में अनुसंधान प्रारम्भ किये। अगले वर्ष ही इन अनुसंधानों के परिणामों को आपने *'विद्युत् तरंगों के गुण'* शीर्षक लेखमाला के रूप में लिखना प्रारम्भ किया। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक और खोज सम्बंधी पत्र-पत्रिकाओं में इन लेखों के प्रकाशित होने पर विज्ञान-संसार में तहलका-सा मच गया। आपका पहला लेख *'विद्युत् किरण का मणि द्वारा ध्रुवन'* बंगाल की *एशियाटिक सोसायटी के जर्नल* में मई १८६५ में प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष विद्युत् से सम्बंध रखने वाले दो अन्य लेख *'इलैक्ट्रीशियन'* नामक प्रसिद्ध पत्र में प्रकाशित हुए। आपके *'वैद्युत्वर्त्तनाकों का निर्धारण'* शीर्षक निबंध से तो भारत ही नहीं, विदेशों में भी आपकी प्रतिभा की धूम मच गई। लन्दन की *रायल सोसायटी* ने आपके इस अन्वेषण को खूब सराहा। अब आपकी गणना विश्व-विख्यात वैज्ञानिकों में होने लगी।

तत्पश्चात् वसु ने जीवन में अनेक वैज्ञानिक आविष्कार किये। निरंतर २० वर्ष तक वे अकेले कार्य करते रहे। क्योंकि उनके मनमें जो बड़े-बड़े विचार उठते थे, उनकी प्रशंसा करने वाला कोई न था। उन्होंने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिखाया कि फौलाद और दूसरी धातुओं में अनुभव तथा पौधों में भाव व विकार पाये जाते हैं, प्रत्येक वस्तु जीती और मरती है।

भौतिकी व पदार्थ-शास्त्र के क्षेत्र में डा० वसु का स्थान सबसे ऊँचा है। प्रोफेसर *मारकोनी वसु*, और एक *अमरीकन वैज्ञानिक* इन तीनों में सबसे पहले वसु ने यह सिद्ध करके दिखाया कि तारों के बिना ही

तार के संकेत आकाश में इधर-उधर भेजे जा सकते हैं। १८९५ में बंगाल के गवर्नर के सामने अपने प्रयोग द्वारा बेतार-के तार का अनुसन्धान सिद्ध करके दिखा दिया था। उन्होंने बिना तार के ही दूर पड़े हुए बोझ को हिला दिया घन्टी को बजाकर एक बन्द कमरे रखी हुई छोटी सी खान को तड़ाक से फोड़ दिया। परन्तु प्रतिभा-शाली जगदीश पराधीन भारत की संतान थे। अतः उनके इस सर्वथा नवीन, मौलिक और क्रान्तिकारी आविष्कार की महत्ता को समझते हुए भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अपनी आँखें मूँद लीं और वसु महोदय को आधुनिक युग के इस महत्वपूर्ण आविष्कार के श्रेय से वंचित रखा। इसके कुछ ही दिन पश्चात् *प्रो० मारकोनी* ने भी स्वतंत्र रूप से बे-तार-के-तार का प्रदर्शन करके दिखाया। स्वतंत्र देश के नागरिक होने के नाते विज्ञान-संसार ने उनकी और उनके आविष्कार की महत्ता को स्वीकार किया और आज संसार में *मारकोनी ही बेतार के तार के जनक* माने जाते हैं।

विद्युत्-संबंधी खोज में वसु महोदय ने पदार्थों में तनाव का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि उत्तेजना मिलने पर वस्तुओं के कणों में तनाव उत्पन्न हो जाता है और उत्तेजना हटा लेने पर वे सिकुड़ कर अपने पूर्व रूप में आ जाती हैं। इस प्रकार की खोजों से उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला कि जड़ और चेतन दोनों में प्रतिक्रिया की समानता पाई जाती है।

१९०१ में पैरिस में होने वाली *विज्ञान-कांग्रेस* में भारत की ओर से वसु सम्मिलित हुए थे। उनके व्याख्यानों का विद्वान् श्रोताओं पर इतना भारी प्रभाव पड़ा कि यूरोप के लगभग सभी विख्यात विश्वविद्यालयों ने उन्हें व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया। १० मई १९०१ को *रायल सोसायटी ऑव इंग्लैंड* ने उन्हें व्याख्यान देने का अवसर देकर अत्यधिक सम्मानित किया। वहाँ पर उन्होंने वनस्पति के देह व्यापार तथा खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में अपने महान् आविष्कार का वर्णन

किया। उनके आविष्कार इतने महान् और मौलिक थे कि बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को उनकी सत्यता पर विश्वास न हुआ और वे वसु से ईर्ष्या करने लगे। इसी ईर्ष्या के कारण उनका *व्याख्यान रायल सोसायटी की पत्रिका* में प्रकाशित न किया गया। जब वसु महोदय दुबारा इंग्लैंएड गये तो उन्होंने अपने प्रयोगों का सफल प्रदर्शन करके अपने आविष्कारों को सिद्ध कर दिखाया। संसार के समस्त वैज्ञानिकों ने आपकी महत्ता को स्वीकार किया।

जगदीशचन्द्र वसु का एक आविष्कार *रेजोनेंट रीकार्डर* है। संगीत में जिसे प्रतिध्वनि अथवा कम्पन कहते हैं, उसी सिद्धान्त के आधार पर इस यन्त्र की रचना हुई है। रेजोनेंट रीकार्डर हमें बताता है कि बहुत-सी चेष्टाएं, जिन्हें हम केवल जीव-जन्तुओं में ही सीमित समझते थे, पेड़ पौधों में भी पाई जाती हैं। वसु का दूसरा बड़ा आविष्कार *क्रेस्कोग्राफ* है। यह यंत्र अपने-आप लिखता जाता है कि पौधा प्रति सैकिंड कितना बढ़ रहा है, यह वास्तविकता को ५०० गुना बढ़ाकर दिखाता है। १६०६ में उन्होंने अपना ग्रंथ प्रकाशित कराया, जो पौधों के देह-व्यापार पर सबसे बड़ा ग्रन्थ है।

जगदीशचन्द्र वसु ने *विज्ञान* की जो अमूल्य सेवा की है, उसके उपलक्ष में स्वदेश और विदेशों ने उनका अपूर्व सम्मान किया है। १६०२ में पैरिस की *विज्ञान-कांग्रेस* में वे भारतीय-वैज्ञानिक के नाते सम्मिलित हुए। १६०३ में उन्हें *सी० आई० ई०* तथा १६१२ में *सी० एस० आई०* की उपाधि से सम्मानित किया गया। १६१७ में भारत सरकार ने उन्हें *सर* की उपाधि दी। १८६५ में *लन्दन विश्व-विद्यालय* ने उन्हें *डाक्टर आव साइंस* की उपाधि दी। १६२० में वे *रायल सोसायटी* के फैलो मनोनीत हुए। पाँच वर्ष तक वे *लीग-आफ-नेशन्स* की बौद्धिक सहयोग कमेटी के सदस्य रहे।

१६१५ में प्रेसिडेन्सी कालिज से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् आप एक स्वतंत्र विज्ञानशाला स्थापित करने के लिए प्रयत्न करने

लगे। ३० नवम्बर १६१७ को अपनी ५६ वीं वर्ष गाँठ के अवसर पर आपने अपनी योजना के अनुसार शास्त्रोक्त विधि से अपने घर के पास ही एक नव-निर्मित भवन में *वसु-विज्ञान-मन्दिर* की स्थापना की। इस विज्ञानशाला की स्थापना में आपने अपनी गाढ़ी कमाई का ५ लाख रुपया लगाया। जनता की ओर से भी इस कार्य के लिए कुछ धन प्राप्त हुआ। सरकार ने भी इन विज्ञान-शाला को नियमित रूप से वार्षिक सहायता देने का प्रबन्ध किया। आपने अपने समस्त आविष्कार और नव-निर्मित यन्त्र आदि भी इसी संस्था को सौंप दिये। मरते समय भी आप १५ लाख की सम्पत्ति संस्था को दान करके संस्था को राष्ट्र को अर्पण कर गए। वास्तव में इस विज्ञान-मन्दिर की स्थापना ने सदैव के लिए आपका नाम अमर कर दिया।

वसु कद में छोटे थे। उनकी दिव्य चक्षु तथा विशाल चेहरा देखकर प्रत्येक व्यक्ति भाँप जाता था कि वे कोई बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। वे धैर्यशाली, दृढ़-संकल्पी, कोमल हृदय और सत्य प्रिय व्यक्ति थे। उन्होंने धन की कभी परवाह नहीं की और अपने किसी आविष्कार को पेटेन्ट नहीं कराया। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने पश्चिम के लोगों के मस्तिष्क से इस विचार को उखाड़ कर बाहर फेंका कि भारतीय लोग वैज्ञानिक शिक्षा देने में अयोग्य हैं। उन्होंने भारतवर्ष को उन देशों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया जो प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों को जन्म देने में प्रसिद्ध हैं।

१६३६ ई० में आप बीमार हो गए और वायु परिवर्तन के लिए *गिरीडीह* चले गये। २३ नवम्बर १६३६ को ७८ वर्ष की आयु में हृदय की गति बन्द हो जाने से वहीं उनका देहावसान हो गया। अपना समस्त जीवन जिन महत्वपूर्ण कार्यों के लिए उत्सर्ग कर दिया, उनसे वह आज मरकर भी जीवित हैं। उनका नाम, यश और कीर्ति आज उनके इस संसार में न होने पर भी चिरकाल तक बने रहेंगे।

तीन

डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय

भारत के जिन वैज्ञानिकों ने अपने विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धानों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है, उनमें डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय का एक विशिष्ट स्थान है। आपने स्वदेश की वैज्ञानिक, आर्थिक, सामाजिक एवं शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति के लिए जो स्तुत्य प्रयत्न किए हैं, उन्होंने आपका स्थान एक विशुद्ध वैज्ञानिक की कोटि से कहीं ऊंचा उठाकर *राष्ट्र-निर्माताओं* में कर दिया है। आपके जीवन का प्रत्येक क्षण राष्ट्र-उन्नति एवं राष्ट्र-सेवा के लिए व्यतीत हुआ है।

डा० प्रफुल्लचन्द्र राय का जन्म २ अगस्त १८६१ ई० को बंगाल के खुलना जिले में *रसली कतिपरा* नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता श्री हरिश्चन्द्र राय एक समाज-सेवी और शिक्षा-प्रेमी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने गाँव में *मिडिल स्कूल* की स्थापना की थी। यह स्कूल अब उन्नति करके हाई स्कूल बन गया है।

प्रफुल्लचन्द्र राय की आरम्भिक शिक्षा उनके पिता के इसी स्कूल में हुई। इस स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् आपको कलकत्ता के तत्कालीन सुप्रसिद्ध *हेअर स्कूल* में प्रविष्ट कराया गया। इस स्कूल में चार वर्ष तक पढ़ने के पश्चात् प्रफुल्लचन्द्र बहुत बीमार हो गए। बीमारी के कारण दो वर्ष तक स्कूल की पढ़ाई बन्द करनी पड़ी। इस काल में भी आप रोग-शैया पर पड़े-पड़े पुस्तकों का अध्ययन करते रहते थे। अस्वस्थ होने पर आपको *एलबर्ट स्कूल* में भर्ती कराया गया। १८७९ में आपने मैट्रिक की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् आप कलकत्ता के *मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूट* में प्रविष्ट हो गए और १८८२ तक इस संस्था में अध्ययन करते रहे।

उन दिनों मेट्रोपालिटन इंस्टीट्यूट में विज्ञान की शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था। प्रफुल्लचन्द्र राय साहित्य और इतिहास में विशेष दिलचस्पी रखते हुए भी विज्ञान की ओर आकर्षित हो चुके थे। विज्ञान का अध्ययन करने आप प्रेसिडेंसी कालिज जाया करते थे। वहां आपको भौतिक और रसायन के सुप्रसिद्ध विद्वानों-*सर पान इलियट* और *सर एलेकजेण्डर पेडलर* के साथ रहने का सुयोग प्राप्त हुआ। इन विद्वानों के सम्पर्क में आने से आपका विज्ञान-प्रेम बहुत बढ़ गया। भारत में तब तक विज्ञान की शिक्षा का उचित प्रबन्ध न था। अतएव कालिज में पढ़ते समय ही आप विलायत जाकर विशेष अध्ययन करने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। १८८० ई० में बी० ए० के साथ-साथ आपने *गिकाइस्ट* छात्रवृत्ति प्राप्त कर ली। इस प्रकार आपकी विलायत जाकर अध्ययन करने की अभिलाषा पूरी हुई। शीघ्र ही आपने इंग्लैंड के लिए प्रस्थान किया और अक्तूबर मास में *एडिनबरा विश्व-विद्यालय* में प्रविष्ट हो गए और ६ वर्ष तक वहां अध्ययन करते रहे।

एडिनबरा-विश्वविद्यालय में पहुंचकर आपने *रसायन* और *भौतिक विज्ञान* के साथ ही *वनस्पति विज्ञान* और *जन्तु विज्ञान* का भी अध्ययन आरम्भ किया। वहां प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आने से आपकी प्रतिभा चमक उठी। १८८५ ई० में आपने *बी० एस-सी०* की परीक्षा पास की। २ वर्ष पश्चात् आपने *डी० एस-सी०* की परीक्षा भी सम्मानपूर्वक पास की। अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता से आपने रसायन विज्ञान में विशेष योग्यता प्रदर्शित करने के उपलक्ष्य में होप छात्रवृत्ति भी प्राप्त की थी।

डी० एस-सी० परीक्षा सम्मानपूर्वक उत्तीर्ण कर चुकने के पश्चात् आपने अपने प्रोफेसरों की सिफ़ारसी चिट्ठियां और स्वतः दिये गए प्रमाण-पत्र आदि लेकर, लन्दन के इण्डिया-आफिस में *इण्डियन एजुकेशन सर्विस* (आइ० ई० एस०) में भर्ती होने का प्रयत्न किया! परन्तु काले भारतीयों का अखिल भारतीय सर्विसों में प्रवेश निषिद्ध

था, इसलिए सब भाँति सुयोग्य होते हुए भी आपको अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य न दिया गया।

डो० एस-सी० परीक्षा पास करने के कुछ मास पश्चात् प्रफुल्लचन्द्र राय कलकत्ता वापस आये। १८८६ में आप *प्रेसिडेंसी* कालिज में *सरप्रोफे* नियुक्त किये गए। कालिज में अध्यापन कार्य के साथ-साथ आपने अन्वेषण कार्य का भी सूत्रपात किया। यद्यपि कालिज में प्रयोगशाला का कोई समुचित प्रबन्ध न था, तथापि इसकी तनिक भी चिन्ता न करते हुए आपने भारत में अन्वेषण कार्य का मार्ग प्रशस्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया और अपने विद्यार्थियों को भी इसके लिए प्रोत्साहित करने लगे अपने अन्वेषणों का विवरण आपने *प्रेसिडेन्सी कालिज में रासायनिक अनुशीलन कार्ड* के नाम से एक स्वन्तत्र पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कराया। इस पुस्तिका के प्रकाशन से संसार को आपकी खोजों का पता लगा और विज्ञान-संसार में आपका नाम आदर के साथ लिया जाने लगा। डा० राय की सर्वप्रथम खोज पारे और उसके मिश्रण से बने हुए पदार्थों के सम्बन्ध में हुई। *पारद नाइट्राइट* नामक पारद यौगिक संसार में सबसे पहले आपने ही तैयार किया आपकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का सूत्रपात इसी अन्वेषण से हुआ। देश विदेश के प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों ने आपके इस अन्वेषण की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। बाद में इस यौगिक की सहायता से आपने अपने शिष्यों के साथ ८० नये यौगिक और तैयार किये तथा कई महत्त्वपूर्ण और जटिल समस्याओं पर प्रकाश डाला। *अमोनियम नाइट्राइट* के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण सन्धान किये तथा *जिंक, केडमियम, केल्सियम, बेरियम* और *मेगनिशियम* प्रभृति के *नाइट्राइट्स* के सम्बन्ध में उपयोगी गवेषणाएं कीं। संक्षेप में आचार्य राय ने अपने वैज्ञानिक अनुसन्धानों और अन्वेषणों से यह सिद्ध कर दिया कि भारतवासी आधुनिक विज्ञान के अध्ययन, अनुशीलन तथा अन्वेषण में किसी भी विदेशी से कम नहीं हैं।

पारद-नाइट्राइट के अन्वेषण से आपकी यूरोप में यथेष्ट ख्याति हो जाने पश्चात् १९०४ ई० में *बंगाल-सरकार* ने आपको सरकारी खर्चे से यूरोप की विभिन्न रसायनशालाओं के निरीक्षण के लिए भेजा। यूरोप में आप जहाँ भी गये, वहाँ के विद्वानों ने आपका बड़ा आदर-सम्मान किया। लन्दन की *केमिकल सोसायटी* और फ्रांस की *एकेडेमी आफ साइंस* ने आपके सम्मान में विशेष उत्सवों का आयोजन किया। बाद में लन्दन की केमिकल सोसायटी ने आपको अपना *फैलो* बनाया।

इन अनुसन्धानों से भी कहीं अधिक प्रसिद्धि आपको अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ *हिन्दू रसायन का इतिहास* की रचना से मिली। १०-१५ वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् आचार्य महोदय ने यह ग्रन्थ तैयार किया। इसका प्रथम संस्करण १९०२ ई० में प्रकाशित हुआ। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ द्वारा आपने प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों की सहायता से प्राचीन भारतीयों के रसायन-ज्ञान की विद्वत्ता को सिद्ध कर दिया है। आपने अकाट्य प्रमाणों द्वारा बतलाया कि प्राचीन भारत में रसायन की प्रगति आधुनिक प्रगति की टक्कर की थी। इस पुस्तक के प्रकाशित होने से पाश्चात्य विद्वानों में एक तहलका-सा मच गया और उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया कि १३ वीं और १४ वीं शताब्दी के हिन्दू रासायनिक समकालीन यूरोपियन विद्वानों से कहीं बढ़े-चढ़े थे।

अट्ठाईस वर्षों तक *प्रेसिडेंसी कालिज में* कार्य करने के पश्चात् १९१६ में आपने सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। परन्तु शीघ्र ही आपको और अधिक विस्तृत कार्य-क्षेत्र में पदार्पण करने का सुयोग प्राप्त हुआ। सर आशुतोष मुखर्जी द्वारा स्थापित यूनिवर्सिटी *साइंस कालिज* की *रसायनशाला* के डायरेक्टर नियुक्त किये गए। इस पद पर आप १९२६ तक कार्य करते रहे। आचार्य राय की विज्ञान-साधना केवल विशुद्ध विज्ञान तक ही सीमित नहीं है। उन्होंने अपने अध्यवसाय से जो ज्ञान उपार्जित किया है, उसको कार्य रूप में परिणत करने

तथा उसकी सहायता से अपने देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का सदुपयोग करने के भी महत्त्वपूर्ण प्रयास किये हैं। राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ाकर देश के दुःख-दारिद्र्य को दूर करने की भरसक चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में राष्ट्र को आपकी सबसे बड़ी देन *बंगाल केमिकल एण्ड फार्मेस्युटिकल वर्क्स* है, जिसकी स्थापना १८६२ ई० में हुई। उसका संगठन और सुचारु रूप से उसका संचालन, आगे आने वाली सन्तति को बराबर आपकी याद दिलाते रहेंगे।

१६२० ई० में अपनी सफल विज्ञान-साधना और विज्ञान के लिए की गई महत्त्वपूर्ण सेवाओं के उपलक्ष्य में आप भारतीय विज्ञान-कांग्रेस के सभापति निर्वाचित किये गए। इसके पश्चात् आपने भारत में रसायन सम्बन्धी अन्वेषण कार्य करने वाले वैज्ञानिकों को संगठित करके उसके कार्यों में पूर्ण सामंजस्य एवं सहकारिता स्थापित करने का निश्चय किया। इसके लिए आप निरन्तर तीन-चार वर्षों तक प्रयत्न करते रहे। इन प्रयत्नों के फल-स्वरूप १६२४ में आप *इंडियन केमिकल सोसायटी* की स्थापना करने में सफल हुए। आज इस संस्था की गणना भारत ही नहीं, प्रत्युत संसार की रसायन-सम्बन्धी श्रेष्ठ संस्थाओं में की जाती है।

विज्ञान के अतिरिक्त आचार्य राय ने साहित्य की भी सराहनीय सेवा की है। *हिन्दू रसायन का इतिहास* में इनके विज्ञान, इतिहास और साहित्य-प्रेम इन तीनों का सामंजस्य दीख पड़ता है। *गदर के पूर्व और बाद का भारत* नाम से आपने भारतीय इतिहास की एक प्रामाणिक पुस्तिका लिखी है। बंगला में भी आप बराबर कुछ-न-कुछ लिखते ही रहते हैं। आपकी गणना बंगला के श्रेष्ठ लेखकों में की जाती है।

उच्च कोटि के वैज्ञानिक होने के साथ ही आचार्य राय प्रमुख *समाज-सेवी एवं देश-प्रेमी* भी हैं। स्वदेश की उन्नति और समाज-सुधार के लिए आप ठोस और रचनात्मक कार्यों में संलग्न रहे हैं।

स्वदेशी और खादी में आपका दृढ़ विश्वास है। १६३१ के राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में सारे देश का दौरा करके स्वदेशी का प्रचार किया और स्थान-स्थान पर स्वदेशी प्रदर्शिनियों का संगठन कराकर उनका उद्घाटन किया। उन दिनों जब देश में दमन-दावानल का दौर-दौरा था, आपके *भाषणों* से राष्ट्रीय-युद्ध से थके हुए देश में *जागृति* और *उत्साह* की एक नवीन लहर दौड़ गई थी। १६१७ ई० में आप अखिल *भारतीय समाज-सुधार कान्फ्रेंस* के सभापति भी बनाये गए थे। उस अवसर पर आपने समाज-सुधार की अन्य योजनाओं के साथ ही *अछूतोद्धार* पर भी बहुत जोर दिया था।

१६२२ में उत्तरी बंगाल में *बाढ़ आने और अकाल* पड़ने पर आपने जिस अदम्य उत्साह के साथ काम किया था उसकी स्मृति आज भी बहुतों के लिए कल की-सी बात है। इस संकट के समय में आपने *खादी* और *चर्खे* का भारी प्रचार किया। आप चर्खे की उपयोगिता और महत्ता में, एक वैज्ञानिक होते हुए भी, दृढ़ विश्वास रखते हैं। आपका चर्खा-प्रेम रसायन-प्रेम से किसी भी अंश में कम नहीं कहा जा सकता। ब्रिटिश सरकार द्वारा *सी० आई० ई०* तथा *सर* की उपाधि प्राप्त करके तथा सरकारी पेंशनर होते हुए भी आप सरकारी नीति की कड़ी आलोचना करने में कभी नहीं चूके और आवश्यकता पड़ने पर अपने कथन को व्यवहार में लाकर भी दिखलाया।

संक्षेप में आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपना सम्पूर्ण जीवन मातृ-भूमि की सेवा में उत्सर्ग कर दिया है। शिक्षा, विज्ञान, समाज-सुधार, राजनीति, स्वदेशी व्यवसायों की उन्नति आदि अनेक क्षेत्रों में सक्रिय रूप से अपने भारत की सेवा की है और इन सेवाओं के लिए आधुनिक तरुण भारत के निर्माताओं में आपका नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा।

यथेष्ट वृद्ध हो जाने पर भी इन कार्यों में आप सक्रिय रूप से भाग लेते रहते हैं। आजकल भी आप बंगाल की सुप्रसिद्ध *संकट-तारन समिति* तथा *नारी-कल्याण-आश्रम* प्रभृति लोकोपकारी संस्थाओं के सभापति हैं।

श्रीनिवास रामानुजन्

श्रीनिवास रामानुजम् की गणना संसार के उन थोड़े-से महापुरुषों में है, जिनका जीवन अलौकिक प्रतिभा और चमत्कार से पूर्ण होता है। वह भारत ही नहीं, प्रत्युत समस्त संसार की उन थोड़ी-सी महान् आत्माओं में से हैं, जिनके कार्य संसार में युगान्तर उपस्थित कर देते हैं और जिनका नाम विश्व के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता है। छोटी आयु में ही संसार को चमत्कृत कर देने वाली आत्माएं बहुत कम होती हैं। २७ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने गणित विज्ञान सम्बन्धी अत्यन्त प्रौढ़ सिद्धान्त उपस्थित कर दिये थे। *सुप्रसिद्ध गणितज्ञ प्रो० हार्डी* ने उनके सिद्धान्तों के विषय में एक बार कहा था—

यह अत्यन्त विस्मयजनक प्रतीत होता है कि श्रीनिवास रामानुजन् ने इतनी छोटी अवस्था में इतने महत्त्वपूर्ण और कठिन प्रश्नों को सिद्ध कर दिया है। स्वप्न में भी ऐसे प्रश्नों को हल करना आश्चर्य से रहित नहीं मालूम होता। इन्हीं प्रश्नों के हल करने में यूरोप के बड़े-से-बड़े गणितज्ञों को १०० वर्ष से अधिक लग गए और तिस पर भी उनमें से बहुत-से तो आज तक भी हल नहीं किये जा सकते हैं।

श्रीनिवास रामानुजन् का जन्म मद्रास प्रान्त के इरोद नामक एक छोटे-से गाँव में, एक उच्च किन्तु निर्धन परिवार में २२ दिसम्बर १८८७ ई० को हुआ था। उनके पूर्वजों में कोई ऐसी बात न थी, जिसमें उनकी महानता का बीज ढूँढ़ा जा सके। उनके जन्म के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है। कहते हैं कि जब उनकी माता के कोई सन्तान न हुई तो वे अपने पिता के यहाँ चली गईं। अपनी पुत्री को सन्तान के लिए चिन्ताकुल देखकर रामानुजन् के नाना ने नामक्कल

नामक गाँव में जाकर वहाँ की नामगिरी देवी की आराधना की, जिसके फलस्वरूप श्रीनिवास रामानुजन् का जन्म हुआ।

पांच वर्ष की अवस्था में बालक रामानुजन् को *ग्रामीण पाठशाला* में पढ़ने भेजा गया। दो वर्ष पाठशाला में पढ़ने के उपरान्त वे *कुम्भकोलम हाई स्कूल* में पढ़ने लगे। स्कूल में वे बिलकुल शान्त रहा करते थे और बराबर कुछ-न-कुछ सोचा करते थे। १८९८ में वे प्राइमरी परीक्षा में सर्वोच्च पास हुए। पुरस्कार के स्वरूप आगे की श्रेणियों का आधा शुल्क कर दिया गया।

रामानुजन् को बाल्यकाल से ही गणित से अगाध प्रेम था। गणित के सम्बन्ध में वे सदैव कुछ-न-कुछ सोचते ही रहते थे। तीसरी श्रेणी में पढ़ते हुए उन्होंने बीजगणित की सुप्रसिद्ध तीनों श्रेणियों का अभ्यास कर लिया था। ये ही तीनों शैलियां कालिज की इन्टरमीडिएट कक्षाओं में पढ़ाई जाती हैं। चौथी कक्षा में आकर इन्होंने *त्रिकोण मिति* का अध्ययन आरम्भ कर दिया। त्रिकोण मिति के प्रश्नों को वे बिना किसी की सहायता के इतनी सरलता से हल कर देते थे, जिन्हें देखकर बड़े-बड़े गणितज्ञ भी चकित रह जाते थे।

पांचवीं श्रेणी में पहुंचकर उन्होंने *ज्या* और *कोज्या* का विस्तार भी कर डाला। यह विस्तार सर्वप्रथम *आयलर* नामक पाश्चात्य गणितज्ञ ने किया था। रामानुजन् ने जिस समय इस विस्तार को किया था उस समय वे आयलर के विस्तार से सर्वथा अनभिज्ञ थे। वे जो कुछ भी कार्य करते थे, वह पूर्णतया मौखिक और स्वतः प्रेरित होता था। अस्तु; उन्होंने बाल्यकाल में ही जो गणित-सम्बन्धी कार्य कर लिया था, वह किसी भी गणिताचार्य की खोज से कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

वे ढूंढ़ ढूंढ़ कर गणित की उच्चकोटि की पुस्तकें पढ़ा करते थे। परन्तु उन्हें पुस्तकों का मिलना यदि असम्भव नहीं तो दुष्प्राप्य अवश्य था। एक बार उनके एक मित्र ने उन्हें *कार*-लिखित एक गणित-

ग्रन्थ लाकर दिया। उसे पाकर उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। अपने समस्त कार्यों को भूलकर वे उस पुस्तक के अध्ययन में निमग्न हो गए। कार-रचित इस पुस्तक ने रामानुजन् पर विशेष प्रभाव डाला और उनकी गणित-शक्तियों में नवीन जागृति उत्पन्न कर दी।

१६०३ ई० में १७ वर्ष की आयु में रामानुजन् ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। इस परीक्षा को योग्यता पूर्वक पास करने के उपलक्ष्य में आपको सरकारी छात्रवृत्ति प्रदान की गई। यह प्रायः उन विद्यार्थियों को दी जाती थी, जो अंग्रेजी और गणित में चतुर हों। परन्तु कालिज के फर्स्टईयर तक पहुँचते-पहुँचते रामानुजन् गणित में इतने दक्ष हो गए थे कि गणित के अतिरिक्त और किसी विषय में उनकी रुचि ही न रह गई थी। उनकी अंग्रेजी बहुत कमजोर हो गई। अस्तु; वे फर्स्टईयर क्लास ही की वार्षिक परीक्षा में फेल हो गए। उनकी छात्रवृत्ति बन्द कर दी गई। विवश होकर उन्हें कालिज छोड़ देना पड़ा। गणित के अतिरिक्त न तो उन्हें कालिज की पढ़ाई से कोई दिलचस्पी ही थी, न उनकी आर्थिक स्थिति ही इस योग्य थी कि वे आगे पढ़ाई जारी रख सकते।

कालिज छोड़ने के पश्चात् रामानुजन् को अपना सारा समय गणित में लगाने का अच्छा अवसर मिल गया। वे दिन-भर गणित के सिद्धान्तों की व्याख्या करने और प्रश्न हल करने में लगे रहते। १६०६ तक वे घर पर रहकर स्वयं गणित का अध्ययन करते रहे। इस बीच उन्होंने अनेक नूतन सिद्धान्त स्थापित कर लिए थे।

उन दिनों रामानुजन् को आर्थिक कठिनाइयों ने बहुत चिंतित कर दिया था। इसी बीच आपका विवाह भी हो गया था, इससे उनकी आर्थिक कठिनाइयां और भी बढ़ गई थीं। वह शीघ्र ही कोई नौकरी ढूंढने पर विवश हो गए। किन्तु उन्होंने न तो कोई उच्च परीक्षा ही पास की थी और न वह किसी प्रभावशाली वंश में ही उत्पन्न हुए थे, अतः उन्हें मामूली नौकरी मिलनी भी दुर्लभ हो गई।

उस समय रामानुजन् जहां भी जाते थे, वहां अपने स्वनिर्मित गणित के नूतन सिद्धान्तों को दिखाते थे, जिन्हें देखकर सभी चकित रह जाते थे, किन्तु उन्हें नौकरी दिलाने में कोई भी समर्थ न था। अन्त में बहुत दौड़-धूप करने के पश्चात् श्री रामचन्द्रराव के प्रयत्न से रामानुजन् को *मद्रास पोर्ट-ट्रस्ट* में ३०) मासिक की नौकरी मिली। इन्हीं दिनों कुछ मित्रों की सहायता से रामानुजन् के कई लेख मद्रास की *इण्डियन मैथमेटिकल सोसायटी* के मुखपत्र में प्रकाशित हुए। दिसम्बर १६१२ में उन्होंने एक लेख के साथ अपने कुछ प्रश्न भी प्रकाशित कराए। इन लेखों और प्रश्नों के प्रकाशन से गणित-संसार में रामानुजन् की काफी ख्याति हो गई।

इसी समय सरकारी वेधशालाओं के डायरेक्टर जनरल वाकर साहब जब मद्रास आये तो उन्हे रामानुजन् के कुछ नवीन सिद्धान्त दिखलाए गए। उन्हें देखकर डाक्टर वाकर साहब बहुत चकित हुए और उन्होंने रामानुजन् की सहायता करने का निश्चय किया। उन्होंने *मद्रास-विश्वविद्यालय* द्वारा रामानुजन् को छात्रवृत्ति दिलाने का भरपूर प्रयत्न किया। अस्तु; उनके सद्प्रयत्नों से आपको मद्रास-विश्व-विद्यालय से दो वर्ष के लिए ७५) मासिक की छात्रवृत्ति मिल गई। नौकरी से छुटकारा मिलने पर और आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होकर रामानुजन् को अपना सारा समय निश्चिन्त होकर गणित के अध्ययन में लगाने का सुअवसर प्राप्त हो गया।

कुछ समय पश्चात् अपने मित्रों की सलाह से आपने कुछ लेख *ट्रिनिटी कालिज* के फैलो प्रसिद्ध गणितज्ञ *डा० जी० एच० हार्डी* के पास भेजे और पत्र लिखकर उनसे उनके प्रकाशन का प्रबन्ध कर देने और उन पर अपनी सम्मति देने का अनुरोध किया। प्रो० हार्डी और दूसरे अंग्रेज गणितज्ञ आपके लेखों को देखकर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने रामानुजन् को शीघ्र-से-शीघ्र कैम्ब्रिज बुलाने का प्रयत्न किया।

जनवरी १६१४ में कैम्ब्रिज के *ट्रिनिटी कालिज* के फैलो और गणित

अध्यापक *ई० एच० नेविल* भारत आये। मद्रास-विश्वविद्यालय में आकर उन्होंने रामानुजन् से भेंट की और विश्वविद्यालय के अधिकारियों को रामानुजन् को विलायत जाने के लिए छात्रवृत्ति देने को प्रेरित किया। अतः उनके प्रयत्न से अधिकारियों ने सरकार की अनुमति से रामानुजन् को २५० पौंड वार्षिक की छात्रवृत्ति देने के अतिरिक्त प्रारम्भिक व्यय और सफर खर्च देना स्वीकार कर लिया। १७ मार्च १९२४ को मि० नेविल के साथ आप इंग्लैंड रवाना हो गए।

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के आचार्यों ने आपको सहर्ष अपने विद्यालय में स्थान दिया और ६० पौंड वार्षिक की एक छात्रवृत्ति देना भी स्वीकार किया। कैम्ब्रिज में रामानुजन् को अध्ययन और अनुशीलन का पूरा अवसर मिला। वह *डा० हार्डी* और *प्रो० लिटिलवुड* की सहायता से उत्तरोत्तर उन्नति करने लगे।

रामानुजन् १९१७ तक कैम्ब्रिज में रहे। इस बीच में उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से इंग्लैंड क्या, संसार-भर के महान् गणितज्ञों को चकित कर दिया। आपके १२-१३ लेख यूरोप की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इनसे उनका सम्मान और भी अधिक बढ़ गया। २८ फरवरी १९२८ को आप *रायल सोसायटी* के फैलो बनाये गए। यह सम्मान प्राप्त करने वाले आप प्रथम भारतीय थे। आपके कामों की महत्ता स्वीकार करने और आपके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए ट्रिनिटी कालिज के अधिकारियों ने भी आपको अपने कालिज का फैलो बनाया और बिना किसी शर्त के आपको २५० पौंड देना स्वीकार किया। यह छात्रवृत्ति आपको ६ वर्ष मिलती रही इस बारे में डा० हार्डी ने मद्रास-विश्वविद्यालय के अधिकारियों को लिखा था— *रामानुजन् इतने बड़े गणितज्ञ होकर भारत लौटेंगे, जितना आज तक कोई भारतीय नहीं हुआ है। मुझे आशा है कि भारत इन्हें अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझकर उचित सम्मान करेगा।*

महायुद्ध की समाप्ति पर २७ फरवरी १९१९ को श्री रामानुजन्

लन्दन से स्वदेश को रवाना हुए और २७ मार्च को बम्बई पहुंचे। विदेश में रहने और जलवायु आदि के अनुकूल न रहने के कारण उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। शरीर में अस्थि-पंजर के अतिरिक्त और कुछ न रह गया था। स्वदेश आते ही उनके मित्रों ने उनकी चिकित्सा का उचित प्रबन्ध किया। मद्रास से उन्हें कावेरी के किनारे कोईमंडी ग्राम में रहने को ले जाया गया। वहां से वे अपनी जन्मभूमि कुम्भ कोलन् ले जाये गए। किन्तु मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। उनके मस्तिष्क का प्रकाश अन्त तक मन्द नहीं हुआ था। मृत्यु-शैया पर भी उन्होंने गणित के महान् कार्य सम्पन्न किये। अन्त में २६ अप्रैल १९२० को मद्रास के पास *चेतपुर* ग्राम में यह महापुरुष स्वर्ग सिधार गये।

रामानुजन् एक विलक्षण प्रतिभा के मानव थे। गणित के कठिन प्रश्न वे बात-की-बात में हल कर लेते थे। उनकी अधिकतर खोजें संख्याओं की मीमांसा से सम्बन्ध रखती हैं। संख्याओं और अंकों की मीमांसा और गूढ़यौगिक संख्याओं पर उन्होंने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख लिखे थे। विषम बीज गणित सम्बन्धी लेखों और वर्गों के योग द्वारा संख्याओं की प्रदर्शन-विधि से उनका पाण्डित्य भली-भांति सिद्ध होता है। उनके अधिकांश लेख लन्दन की *मैथमेटिकल सोसायटी* और केम्ब्रिज की *फिलासाफिकल सोसायटी* की मुखपत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। आपके सब छपे मौलिक निबन्धों का संग्रह बड़े आकार के २५५ पृष्ठों के ग्रन्थ में १९२७ में *केम्बिज यूनिवर्सिटी प्रेस* से प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन *डा० हार्डी, डा० बी० एम० विलसन* और *श्री शेषु अय्यर* ने किया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन के लिए बड़े उच्च और नूतन गणित के ज्ञान की आवश्यकता है।

रामानुजन् बड़े विनयशील और विनम्र स्वभाव के व्यक्ति थे। संसार का एक महान् गणितज्ञ होकर तथा देश-विदेशों से अपूर्व सम्मान पाकर भी उनकी विनम्रता और सादगी में कोई अन्तर नहीं आया था। वास्तव में उनमें एक महापुरुष के सभी गुण विद्यमान थे। ऐसे महान् व्यक्ति पर भारतवर्ष जितना भी गर्व करे, थोड़ा है।

पाँच

डाक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर

डा० शान्तिस्वरूप भटनागर भारत के उन श्रेष्ठ वैज्ञानिकों में हैं, जिन्होंने विज्ञान-संसार में भारत का मस्तक ऊँचा किया है। एक साधारण स्थिति के परिवार में जन्म लेकर अपने परिश्रम, प्रतिभा और अदम्य उत्साह से उच्च-कोटि का ज्ञान और यथेष्ट धन अर्जित करके आपने यह सिद्ध कर दिखाया है कि सफलता और प्रसिद्धि केवल बड़े और सम्पन्न घरों तक ही सीमित नहीं है। आप भारत के ही नहीं, प्रत्युत संसार के एक प्रख्यात रासायनिक हैं।

डा० शान्तिस्वरूप भटनागर का जन्म २१ फरवरी १८६४ ई० को पंजाब के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान भेड़ा में हुआ था। आपके पिता ला० परमेश्वरीसहाय लाहौर के डी० ए० वी० हाईस्कूल में ५०) मासिक पर अध्यापक थे। डा० शान्तिस्वरूप भटनागर की अवस्था अभी ८ मास की ही होगी कि पिता की छत्र छाया सिर से उठ गई। कौन जानता था कि यह पितृ-हीन बालक एक दिन भारत का श्रेष्ठ वैज्ञानिक होगा।

पिता की मृत्यु के पश्चात् बालक शान्तिस्वरूप का पालन पोषण उनके नाना मुन्शी प्यारेलाल के संरक्षण में सिकन्दराबाद में हुआ। आपकी *प्रारम्भिक शिक्षा* भी सिकन्दराबाद के *ए० वी० हाईस्कूल* में ही हुई। बाद में इनके पिता के अनन्य मित्र *ला० रघुनाथ सहाय* ने इन्हें अपने पास लाहौर बुला लिया। वे उन दिनों लाहौर के दयालसिंह हाई स्कूल के हेडमास्टर थे। अतः शान्तिस्वरूप को *दयालसिंह हाई स्कूल* में प्रविष्ट करा दिया।

बाल्यावस्था से ही शान्तिस्वरूप बड़ी प्रखर बुद्धि के थे। आठवीं श्रेणी में इन्होंने अपनी योग्यता से सरकारी *छात्र-वृत्ति* प्राप्त की थी। विज्ञान की ओर इनकी रुचि प्रारम्भ से ही थी। एक दिन खेल-खेल में इन्होंने एक *टेलीफोन* बनाया था और उससे अपने संरक्षक और स्कूल के हेडमास्टर से कुछ देर तक बातें की थीं। १६११ में इन्होंने *पंजाब-विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा* प्रथम श्रेणी में पास की। इसी वर्ष *दयालसिंह कालिज* लाहौर में भर्ती हो गए।

इस कालिज में आप *सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० रुचिराम साहनी* के निकट सम्पर्क में आये। उनके सम्पर्क से विद्यार्थी शान्तिस्वरूप का विज्ञान-प्रेम और अधिक प्रगाढ़ हो गया और *रसायन-विज्ञान* में विशेष रुचि उत्पन्न हो गई। इसी समय आपकी भेंट महान् वैज्ञानिक *आचार्य जगदीशचन्द्र वसु* से हुई। इससे आपके विज्ञान-प्रेम को और अधिक प्रोत्साहन मिला। १६१४ में इन्होंने दयालसिंह कालिज से *इण्टरमीडिएट* की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। बाद में एफ० एस-सी०, *बी० एस० सी०* तथा *एम० एस-सी०* की उपाधियां प्राप्त कीं। इसी बीच ला० रघुनाथसहाय की सुपुत्री कुमारी लाजवन्ती देवी के साथ आपका विवाह भी हो चुका था।

एम० एस-सी० की परीक्षा पास करने के पश्चात् भटनागर कुछ दिन तक *मिशन कालिज* और *दयालसिंह कालिज* में मामूली वेतन पर *डिमांस्ट्रेटर* का कार्य करते रहे। परन्तु इससे आप सन्तुष्ट न थे। अपने विद्यार्थी जीवन ही से उन्हें *रसायन-विज्ञान* की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विलायत जाने की बड़ी अभिलाषा थी। किन्तु निर्धनता इनके मार्ग की रुकावट बनी हुई थी। १६१६ में आपकी यह कठिनाई दूर हुई और उन्हें *दयालसिंह कालिज ट्रस्ट से* विलायत जाकर अध्ययन करने के लिए एक *छात्रवृत्ति* मिल गई।

१६१६ में आपने अमरीका जाने के इरादे से भारत से प्रस्थान किया, परन्तु इंग्लैंड पहुँचकर वहीं रुक गए और वहाँ *लन्दन-यूनि-*

वर्सिटी के साइन्स कालिज में प्रविष्ट हो गए। वहाँ आपने *प्रो० डोनन* की देख-रेख में अनुसन्धान-कार्य प्रारम्भ किया। शीघ्र ही अपनी प्रतिभा के बल पर *प्रिवी कौंसिल के साइंटिफिक* और *इण्डस्ट्रियल रिसर्च डिपार्टमेंट* की ओर से दी जाने वाली ३००) मासिक की छात्रवृत्ति प्राप्त की। १६२१ में आपने *लन्दन-यूनिवर्सिटी* से *डी० एस-सी०* की उपाधि प्राप्त की।

भारत वापस आने पर डा० भटनागर उसी वर्ष *हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी में* ५००) मासिक पर रसायन के प्रोफेसर नियुक्त किये गए। कुछ ही दिनों में आप विश्वविद्यालय के अधिकारियों, छात्रों, एवं अपने सहयोगियों में बहुत लोकप्रिय हो गए। आपने विश्वविद्यालय की *रसायनशाला* में नवीन प्राण फूँक दिये। कालिज के समय के अतिरिक्त आप अपनी प्रयोगशाला में भी कार्य करते थे। आपके निरीक्षण में विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में कई महत्वपूर्ण *अन्वेषण* हुए, जिनके विवरण यूरोप की प्रतिष्ठित वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इससे आपकी और आपके अनुसन्धानों की चर्चा भारत से बाहर विदेशों में फैलने लगी। १६२३ में *लिवरपूल* में होने वाले *ब्रिटिश वैज्ञानिकों के सम्मेलन* में आप *काशी-विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि* के रूप में सम्मिलित हुए।

लिवरपूल से स्वदेश लौटने पर १६२४ में आपको *पंजाब-यूनिवर्सिटी* ने अपनी रसायनशालाओं में अन्वेषण-कार्य का संचालन करने को आमंत्रित किया और अपने वहाँ भौतिक रसायन का १२५०) वेतन पर *यूनिवर्सिटी-प्रोफेसर* नियुक्त किया। वहाँ आकर आपकी प्रतिभा और अधिक चमक उठी। वहाँ आपने जो महत्वपूर्ण *अनुसन्धान एवं अन्वेषण* किये उनसे आपकी गणना विज्ञान-संसार के *उत्कृष्ट रासायनिकों में* की जाने लगी। आप अपनी खोज के लिए पंजाब के व्यवसायियों में भी प्रसिद्ध हो गए। बड़े-बड़े उद्योगपति अपनी औद्योगिक समस्याओं के लिए आपसे परामर्श लेने के लिए आने लगे। इस कार्य

से जो आय होती, वह सब धन आप *यूनिवर्सिटी कैमिकल सोसायटी* को दान कर देते थे।

लाहौर में आपने प्रारम्भ में *भौतिक* और *साधारण रसायन* की कई समस्याओं, विशेषकर *प्रकाश रसायन पर* कार्य किया। अणुओं और उनके *चुम्बकीय गुणों पर* आपके कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। अणुओं की रचना एवं गठन के बारे में भी कई नवीन बातों की खोज की है। इस सम्बन्ध में आपने ज्ञात किया कि कोयला, जो *अनुचुम्बकीय पदार्थ* है, किसी दूसरे पदार्थ के *अधिशोषण* करने पर *चुम्बकीय* हो जाता है। अपने इस प्रयोग से आपने सिद्ध किया कि *अधिशोषण एक रासायनिक क्रिया है*।

अणुओं के *चुम्बकीय गुण* मालूम करने के लिए आपने एक नवीन यन्त्र भी तैयार किया है। अणुओं के चुम्बकीय गुण तथा रसायन सम्बन्धी चुम्बक *विज्ञान* के आप संसार के इने-गिने वैज्ञानिकों में स्थान रखते हैं। इन विषयों पर आपके ८०–६० मौलिक गवेषणा-पत्र विभिन्न प्रतिष्ठित देशी एवं विदेशी वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। *चुम्बकीय रसायन पर* आपने एक महत्त्वपूर्ण *ग्रन्थ* लिखा है। यह ग्रन्थ लन्दन की *मैकमिलन कम्पनी* द्वारा १६२५ में प्रकाशित हुआ था। चुम्बकीय रसायन पर अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित होने वाला संसार में यह पहला ग्रन्थ है।

डा० भटनागर का कार्य-क्षेत्र केवल विशुद्ध विज्ञान तक ही सीमित नहीं है। आपने *औद्योगिक महत्व के* भी अनेक उपयोगी एवं *व्यावहारिक अनुसन्धान* किये हैं। रासायनिक उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए बहुत-सी नवीन और सुधरी हुई रीतियाँ मालूम की हैं। पंजाब के *मिट्टी के तेल के कारखानों* ने आपके अन्वेषणों की सहायता से पर्याप्त लाभ उठाया है। सुप्रसिद्ध उद्योगपति *बिड़ला*, दिल्ली के सर *श्रीराम*, कानपुर के *जुग्गीमल कमलापत*, बम्बई की *टाटा आयल मिल्स* कम्पनी प्रभृति अनेक व्यवसायी आपकी खोजों के पेटेण्ट अधिकार खरीदकर

उनके प्रयोगों को कार्यान्वित करके समुचित लाभ उठा रहे हैं।

डा० भटनागर ने और भी कई महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये हैं, जिनसे भारत के उद्योग-धन्धों को बहुत-कुछ प्रोत्साहन मिलने की आशा है। आपके दो प्रसिद्ध अन्वेषण *मिट्टी के तेल की रोशनी की ताकत बढ़ाना* और *बिना गंध की मोमबत्ती तैयार करना* है। उद्योग-धन्धों तथा बड़े-बड़े मिलों और कारखानों के *कूड़े-करकट को उपयोगी बनाने के बारे में* भी आपने उल्लेखनीय कार्य किये हैं। कपड़े के मिलों के *गूदड़ से पश्मीना सिल्क* बनाने की नई तरकीब ढूँढ़ निकाली है। इसी प्रकार जूट के गूदड़ और बिनौले के तेल से *बेकलाइट* प्रभृति कई उपयोगी वस्तुएं तैयार करने की रीतियां मालूम की हैं। वनस्पति तेलों की सहायता से रेलगाड़ियों की धुरियों को चिकनाने वाले *एक्सिल आयल* जैसे तेल बनाने में भी आप सफल हुए हैं। *शीरे से टाइल्स, और विद्युत् अवरोधक पदार्थ, चावलों का रूप देने में भी आप सफल हुए हैं। साबुनों के रंग और सुगन्ध को स्थायी बनाने में भी आपके प्रयोग उपयोगी एवं व्यावहारिक सिद्ध हुए हैं।*

डा० भटनागर के इन औद्योगिक अन्वेषणों की महत्ता को भारत सरकार ने भी स्वीकार किया है। १६३६ में सरकार की ओर से आपको ओ० *बी०* ई० की उपाधि प्रदान की गई। १६४० में भारत-सरकार ने आपको अपने *बोर्ड आफ इण्डस्ट्रियल एण्ड साइंटिफिक रिसर्च* का डायरेक्टर नियुक्त किया। इस पद पर नियुक्त होने के पश्चात् सरकारी एवं गैर सरकारी दोनों ही क्षेत्रों में आपकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई। १६४१ में सरकार की ओर से आपको *सर* की उपाधि भी दी गई थी।

आपकी खोजें और मौलिक अन्वेषण विदेशों में भी यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। लन्दन की सुप्रसिद्ध *कैमिकल सोसायटी* ने इन अन्वेषणों के उपलक्ष्य में आपको फैलो बनाया है। इंग्लैंड की *इंस्टिट्यूट आफ फिजिक्स* (भौतिक विज्ञान परिषद्) ने भी आपको अपना फैलो

मनोनीत किया। इसके अतिरिक्त अनेक देशी और वैज्ञानिक-संस्थाओं की ओर से आप सम्मानित किये गए हैं।

डा० भटनागर जहाँ एक श्रेष्ठ वैज्ञानिक हैं वहाँ एक सच्चे देशभक्त भी हैं। कांग्रेस की ओर से संगठित की जाने वाली राष्ट्र-निर्माण कमेटी के आयोजन एवं संगठन में आपने प्रमुख भाग लिया था। आप इस कमेटी की रसायन-उपसमिति और औद्योगिक शिक्षा एवं अनुसंधान उपसमिति के सदस्य रहे थे। इसके अतिरिक्त आपने साहित्य की भी यथेष्ट सेवा की है। आपने उर्दू में विद्युत्-ज्ञान पर *इल्मुलबर्ग* नामक एक श्रेष्ठ पुस्तक प्रकाशित कराई है। उच्चकोटि के गद्य लेखक होने के साथ ही आपकी काव्य-साधना भी विशेष महत्व की है। आपको हिंदी और उर्दू दोनों ही की कविताओं से प्रेम है। स्वयं भी अच्छी कविता करते हैं। काशी विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध *विश्वविद्यालय-गान* के रचयिता भी आप ही हैं। उर्दू में भी आप अच्छी कविता लिखते हैं। 'लजवन्ती' नाम से आपकी उर्दू कविताओं का एक संग्रह भी निकला है।

वास्तव में डा० शांतिस्वरूप भारत के एक अनुपम रत्न हैं। आप एक साहसी, उत्साही एवं दृढ़संकल्पी मानव हैं। आपकी सच्चरित्रता अनुकरणीय है। आपका जीवन भारतीय युवकों के लिए एक उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित करता है। आशा है आपका अनुकरण करके देश के नवयुवक अपनी विज्ञान-सेवाओं से भारत को गौरवान्वित करेंगे।

डाक्टर मेघनाद साहा

भारत के जिन वैज्ञानिकों ने भौतिक विज्ञान सम्बन्धी अपने मौलिक अनुसन्धानों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है, उनमें श्री वैंकट रमन् के बाद डाक्टर मेघनाद साहा अग्रगण्य हैं। संसार के कतिपय सर्वश्रेष्ठ *ज्योतिर्भौतिक विज्ञान विशारदों* में आपका उत्कृष्ट स्थान है। भारत में तो आप इस विषय के सर्वमान्य श्रेष्ठतम वैज्ञानिक हैं। एक साधारण से देहाती परिवार में जन्म लेकर अपनी प्रतिभा और परिश्रम से अति उच्चकोटि के वैज्ञानिक कार्य करके डाक्टर साहा ने भारतीय नवयुवकों के सन्मुख एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया है।

मेघनाद साहा का जन्म १८६३ ई० में ढाका ज़िले के सिओरातालो नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता श्रीयुत जगन्नाथ साहा साधारण व्यापारी थे। आधुनिक विज्ञान तो दूर रहा, उनका आधुनिक अंग्रेज़ी शिक्षा से भी कोई सम्पर्क नहीं था। ग्रामीण पिता ने डा० साहा को एक *ग्रामीण पाठशाला* में भर्ती कराया। पाठशाला में मेधावी साहा ने अपनी अद्भुत बुद्धि तथा प्रतिभा का परिचय देकर समस्त शिक्षकों को चकित कर दिया और *मिडिल की परीक्षा में* छात्रवृत्ति प्राप्त की। १६०६ में उन्होंने *ढाका के एक स्कूल से* कलकत्ता-विश्वविद्यालय की *प्रवेशिका* परीक्षा पास की। इन परीक्षा में वे पूर्वी बंगाल में सर्व प्रथम रहे। १६११ में वे *ढाका कालिज* से विज्ञान की *इन्टरमीडिएट* की परीक्षा ससम्मान पास करके कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी कालिज में प्रविष्ट हो गए।

प्रेसिडेन्सी कालिज में आकर डा० साहा को *आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय* और *जगदीशचन्द्र वसु*-जैसे महापुरुषों से शिक्षा ग्रहण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन महान् वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आकर से विद्यार्थी मेघनाद को वैज्ञानिक विषयों में अभिरुचि लेने और स्वयं अनुसन्धान कार्य करने के लिए विशेष प्रेरणा मिली। यद्यपि उन दिनों मेघनाद की गणित में विशेष रुचि थी, तथापि वह रसायन और भौतिक विज्ञान पढ़ाने वाले इन दोनों आचार्यों के अधिक सम्पर्क में रहे। १९२३ में उन्होंने गणित में *बी० एस-सी० आनर्स* परीक्षा और १९२५ में इसी विषय में *एम० एस-सी०* परीक्षा सम्मानपूर्वक प्रथम श्रेणी में पास की।

एम० एस-सी० पास करने के उपरान्त श्री साहा १९१६ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के नवसंगठित *विज्ञान कालिज* में *एम० ए०* की कक्षाओं के *गणित* और *भौतिक विज्ञान* के *लेक्चरार* नियुक्त हुए। यहाँ आपको सी० वी० रमन् के साथ कार्य करने का सुअवसर मिला। फलस्वरूप आप अन्वेषण कार्य में विशेष अभिरुचि लेने लगे। आप की पहली स्वतंत्र खोज *केबीपेरा के व्यक्तीकरण मापक यंत्र की व्यक्तीकरण सीमा* के सम्बंध में थी। कुछ ही दिनों में आप अन्वेषण कार्य में अपनी स्वतंत्र पद्धति एवं मौलिक विचारों का यथेष्ट परिचय देने लगे। १९१९ में आपको अन्वेषण कार्यों के उपलक्ष्य में सुप्रसिद्ध *प्रेमचन्द्र रायचन्द छात्रवृत्ति* प्रदान की गई। उसी वर्ष आप विश्वविद्यालय की *डी० एस-सी०* परीक्षा में भी सम्मिलित हुए और इस परीक्षा के लिए अपनी मौलिक खोजों पर एक महत्त्वपूर्ण निबंध लिखा। इस निबंध की जाँच विलायत के तीन उत्कृष्ट विद्वानों से कराई गई। तीनों ने आपकी खोज की यथेष्ट प्रशंसा की और उसे बहुत उच्च कोटि का बतलाया। *कलकत्ता विश्वविद्यालय* ने उसी वर्ष आपको *डी० एस-सी०* की उपाधि प्रान की।

इसके पश्चात् आपने *ज्योतिर्भौतिक विज्ञान* का विशेष अध्ययन

किया और कई एक मौलिक अन्वेषण किए। *सूर्य रश्मिचित्रों* से सम्बंध रखने वाली कुछ अत्यन्त जटिल और महत्त्वपूर्ण समस्याओं ने आपका ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए विश्व के वैज्ञानिक कई वर्षों से प्रयत्नशील थे। १९२० ई० में डा० साहा के नवीन सिद्धांत द्वारा यह समस्याएं बड़ी सरलता से सुलझ गईं। आपने यह सिद्ध किया कि अधिक ऊंचे तापक्रमों पर तथा अल्प दबाव पर सूर्य के *वर्णमण्डल* के परमाणु *आयोनाइज्ड* होते हैं और इसी कारण सूर्य के वर्ण मण्डल के रश्मि-चित्रों में कुछ रेखाएं मोटी दीख पड़ती हैं। आपने यह भी सिद्ध किया कि किसी विशेष गैस में किसी दिये हुए दबाव और तापक्रम पर कितना गैस आयोनाइज्ड हो जायगा। आपके इसी समीकरण से ज्योतिषियों की अनेक उलझनें सुलझ गईं और इस प्रथम खोज से ही आपने विश्व-ख्याति प्राप्त कर ली। आपके सुप्रसिद्ध ताप-यापन सिद्धांत एवं तत्सम्बंधी महत्त्वपूर्ण कार्यों का श्री गणेश भी इसी सिद्धांत से होता है।

इस सर्वथा मौलिक सिद्धांत की महत्ता को स्वीकार करते हुए कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने आपको उसी वर्ष *यूरोप यात्रा के लिए* एक विशेष *ट्रैवलिगं फैलोशिप प्रदान* की। यह पुरस्कार लगभग १००००) का था। इससे आपको यूरोप जाकर पाश्चात्य देशों के अग्रगण्य वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आने का सुयोग प्राप्त हुआ। उसी वर्ष आपको *ग्रिफिथ स्मारक पुरस्कार* भी प्रदान किया गया।

१६ सितम्बर १९२० को आपने इंग्लैंड के लिए प्रस्थान किया। वहाँ आप जनवरी १९२१ तक लन्दन के सुप्रसिद्ध *इम्पीरियल कालिज आफ साइन्स* में प्रख्यात वैज्ञानिक *प्रो० फाउलर* की प्रयोगशाला में कार्य करते रहे। वहाँ रहकर आपने नक्षत्रों के *रश्मि-चित्रों* सम्बंधी कार्यों की अपने सिद्धांत की दृष्टि से व्याख्या और विवेचना की और अपने अन्वेषण के अधार पर *नक्षत्रों के रश्मि-चित्रों का भौतिक सिद्धान्त* नाम से

एक और नवीन सिद्धांत बड़े परिश्रम पूर्वक प्रकाशित किया।

आपकी इस नवीन खोज से विज्ञान-संसार में हलचल मच गई और अन्वेषण कार्य के लिए एक नवीन मार्ग प्रशस्त हो गया। इस नवीन अन्वेषण का हाल मालूम होने पर जर्मनी के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक *नोबल पुरस्कार विजेता आचार्य नर्न्स्ट* ने आपको अपनी प्रयोगशाला में कार्य करने के लिए आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया। आचार्य नर्न्स्ट की प्रयोगशाला में भी आपने कई महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये। इस प्रयोगशाला में कार्य करते हुए आपको म्यूजिक के आचार्य *समरफील्ड* ने भौतिक वैज्ञानिकों के एक सम्मेलन में अपनी महत्त्वपूर्ण खोजों पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया। जर्मनी से लौटकर आप कुछ दिन इंगलैंड में रहे। वहां के उत्कृष्ट वैज्ञानिकों ने आपसे मिलकर आपकी नवीन खोजों में अभिरुचि ली और आपके कार्यों की यथेष्ट प्रशंसा की।

भारत लौटने पर कलकत्ता-विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर सर आशुतोष मुकर्जी ने *सांइस कालिज* में आपको *भौतिक विज्ञान का बड़ा आचार्य* नियुक्त किया। इस पद पर आप दो वर्ष तक रहे और अपने सहकारियों के साथ मिलकर कई नवीन अन्वेषणों का सूत्रपात किया।

१९२३ में आप प्रयाग-विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान के अध्यक्ष नियत किये गए। यहां आपको अन्वेषण-कार्य के लिए और भी अधिक सुविधाएं मिल गईं। आपने भौतिक विज्ञान के लिए एक नवीन अन्वेषणालय का संगठन किया और उसमें सर्वथा नवीन अन्वेषणों का श्रीगणेश किया। जुलाई १९३२ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान के आचार्य प्रोफेसर देवेन्द्रमोहन वसु के सुविख्यात *वसु रिसर्च इंस्टिट्यूट के* डायरेक्टर नियुक्त हो जाने पर डा० मेघनाद साहा भौतिक विज्ञान के पलित आचार्य नियुक्त किये गए।

ज्योतिर्भौतिक के अतिरिक्त आपने भौतिक विज्ञान के दूसरे

विभागों में भी उल्लेखनीय कार्य किये हैं। विद्युत् सिद्धान्तों एवं प्रकाश विज्ञान के सम्बन्ध में भी आपने कई महत्त्वपूर्ण भौतिक प्रयोग किये। ज्योतिष सम्बन्धी भौतिक विज्ञान में तो आजकल संसार की विभिन्न प्रयोगशालाओं में अधिकांश कार्य आपके नवीन सिद्धान्तों के अनुसार ही हो रहा है। आपका *तापयापन* सिद्धान्त विज्ञान-संसार में विशेष महत्त्व की दृष्टि से देखा जाता है। इसके अतिरिक्त आपके सक्रिय *नोपजन, वर्णपट विज्ञान, परमाणु की रचना, डाइरेक का ऋणाणु सिद्धान्त, विकीरण दबाव* और *धातु लवणों* के रंग सम्बन्धी कार्य भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रयाग-विश्वविद्यालय में कार्य आरम्भ करने के पश्चात् डा० साहा अपने महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक कार्यों के लिए नित नवीन सम्मानों से विभूषित किये जाने लगे। १९२७ ई० में विश्व-विख्यात वैज्ञानिक संस्था *रायल सोसायटी* ने आपको अपना फैलो मनोनीत किया। उसी वर्ष आप इटली में होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय भौतिक विज्ञान कान्फ्रेन्स में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए अमंत्रित किये गये। वहां 'वोल्टा' शताब्दी में भी आपने सक्रिय भाग लिया और *नाक्षत्रिक रश्मिचित्र सिद्धान्त* के विषय में भी व्याख्यान दिये। इंगलैंड की इंस्टीटयूट आफ फिजिक्स तथा उसके पश्चात् *अन्तर्राष्ट्रीय ज्योति सभा* ने भी आपको अपना फैलो मनोनीत किया। १९३४ में बंगाल की *रायल एशियाटिक सोसायटी के भी* आप भारतीय विज्ञान कांग्रेस के बम्बई-अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए। उससे पूर्व १९२६ ई० में आप कांग्रेस के *भौतिक* और *गणित विभाग* के अध्यक्ष भी रह चुके थे।

डाक्टर साहा ने वैज्ञानिक तथ्यों के केवल सैद्धान्तिक अन्वेषण ही नहीं किये हैं, प्रत्युत आपने प्राचीन एवं अर्वाचीन इतिहास तथा विज्ञान का अध्ययन करके देश के व्यवसाय और व्यापार को अधिक सुचारु तथा सुसंगठित रूप से चलाने और अधिक उपयोगी बनाने

के लिए कई महत्त्वपूर्ण एवं व्यावहारिक योजनाएं भी तैयार की हैं। इस बात पर आप बराबर जोर देते रहते हैं कि विश्वविद्यालयों का वैज्ञानिक कार्य केवल सैद्धान्तिक महत्त्व की बातों तक सीमित नहीं रखना चाहिए। अब वह समय आ गया है, जब वैज्ञानिक अन्वेषण और सन्धान से देश की औद्योगिक समस्याएं सुलझाई जायं आपका यह निश्चित और स्पष्ट मत है कि देश की निर्धनता एवं बेकारी को दूर करने तथा देश की रक्षा के साधन जुटाने के लिए बड़े-बड़े उद्योग-व्यवसायियों का संगठन एवं संचालन अनिवार्य है।

स्वयं उत्कृष्ट एवं भौतिक विज्ञान का कार्य करने के साथ ही आपने तरुण वैज्ञानिकों को प्रोत्साहन देने तथा भारत में वैज्ञानिक उन्नति का पथ प्रशस्त करने के विचार से भारत में कई प्रतिष्ठित वैज्ञानिक संस्थाओं के निर्माण और संगठन में प्रमुख भाग लिया है। इन संस्थाओं में प्रयाग की *नेशनल एकेडेमी आफ साइंसेज, इंडियन फिजीकल सोसायटी* तथा *नेशनल इंस्टिट्यूट आफ साइंसेज आफ इंडिया* के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रतिष्ठित वैज्ञानिक संस्थाओं की स्थापना, संगठन और संचालन में प्रमुख भाग लेकर डाक्टर साहा ने केवल विज्ञान ही नहीं, वरन् समस्त राष्ट्र की बहुमूल्य सेवाएं की हैं। वास्तव में डा० साहा के कार्य केवल प्रयोगशालाओं तक ही सीमित नहीं हैं। आप अपनी विज्ञान-साधना को राष्ट्र-हित के कार्यों में लगाने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। आजकल कलकत्ता-विश्वविद्यालय में आपकी विज्ञान-साधना का क्रम पूर्ववत् जारी है। वास्तव में डा० मेघनाद साहा जिस ढंग से वैज्ञानिक अन्वेषण कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं उससे देश को बहुत कुछ आशाएं हैं और अनुमान किया जाता है कि निकट भविष्य में यदि भारत में किसी वैज्ञानिक को फिर नोबल पुरस्कार पाने का सौभाग्य प्राप्त होगा तो वह भाग्यशाली व्यक्ति सम्भवतः डाक्टर मेघनाद साहा ही होंगे।

आचार्य बीरबल साहनी

आचार्य बीरबल साहनी एक सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली विश्व-विख्यात वैज्ञानिक थे। विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु के अतिरिक्त जिन भारतीय वैज्ञानिकों ने *वनस्पति-विज्ञान* सम्बन्धी अनुसन्धान-कार्य से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है, उनमें बीरबल साहनी का नाम अग्रगण्य है। आप एक महान् वैज्ञानिक होने के साथ-साथ सच्चे देश-भक्त भी थे।

आचार्य साहनी का जन्म १४ नवम्बर १८६१ को पंजाब के भेड़ा नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता *प्रो० रुचिराम साहनी* गवर्नमेंट कालिज लाहौर के *रसायन-शास्त्र के आचार्य* और एक *प्रसिद्ध वैज्ञानिक* थे। आपकी माता श्रीमती ईश्वरी देवी अपने शील और सुन्दर स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थीं। सुयोग्य माता-पिता के सुयोग्य पुत्र होने के नाते बीरबल साहनी का विश्व-विख्यात वैज्ञानिक होना स्वभाविक ही है।

अपनी प्रारम्भिक शिक्षा लाहौर के *सेण्ट्रल स्कूल* और *गवर्नमेंट कालिज* में समाप्त करने के पश्चात् १६११ में आप *केम्ब्रिज के इमेन्युअल कालिज* में पढ़ने के लिए विलायत गये। वहाँ पहुंचने के कुछ समय पश्चात् ही प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण १६१६ तक वहीं रहे।

आरम्भ से ही साहनी बड़े सत्यवादी, निर्भीक और न्याय-प्रिय थे। अपनी योग्यता और सत्यप्रियता से आपने विश्वविद्यालय के अधिकारियों को मुग्ध कर लिया। १६१४ में आपका वैज्ञानिक अनुसन्धान सम्बन्धी एक लेख वनस्पति-विज्ञान के प्रसिद्ध पत्र *न्यू फाइटोलाजिस्ट* में प्रकाशित हुआ, जिसकी बड़ी प्रशंसा की गई।

केम्ब्रिज में आपने कोर्स की पुस्तकों के अतिरिक्त और जानने योग्य बातों का अध्ययन किया आपने बहुत-सी *स्लाइडें* बनाईं और बहुत-से *प्रस्तरावशेष* जमा किये, जिनकी सहायता से बाद में आप अपने शिष्यों को पढ़ाया करते थे। कैम्ब्रिज में आपने बड़ा सादा जीवन व्यतीत किया। अपने माता-पिता से बिना किसी धन की सहायता लिए अपनी ६० पौंड वार्षिक छात्रवृत्ति से ही अपने सब खर्च पूरे कर लिए।

कैम्ब्रिज में पढ़ने के साथ-ही-साथ अपने लन्दन-विश्वविद्यालय की *एम० एस-सी०* और बाद में *डी० एस-सी०* की उपाधियाँ भी प्राप्त कीं। आपके अनुसन्धान-कार्य को महत्ता को समझकर लन्दन की *रायल सोसायटी* और *इमैन्युअल कालिज* ने आपको आर्थिक सहायता दी थी। इस प्रकार यूरोप और ब्रिटेन के प्रायः सभी बड़े-बड़े वनस्पति-विज्ञान-वेत्ताओं से आपका निकट-सम्पर्क हो गया था।

लन्दन से *डी० एस-सी०* की उपाधि लेकर श्री साहनी १९१९ में भारत लौटे और *हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी* में वनस्पति-विज्ञान के आचार्य नियुक्त किये गए। परन्तु तत्कालीन साइन्स कालिज के प्रिंसिपल से कुछ अनबन हो जाने के कारण आपने १९२० में बनारस विश्वविद्यालय से त्याग-पत्र दे दिया और लाहौर गवर्नमेंट कालिज में उसी पद पर नियुक्त किये गए। सन् १९२२ में *लखनऊ-विश्वविद्यालय* के स्थापित होने पर आप वहाँ *वनस्पति-विज्ञान के आचार्य* नियुक्त हुए और अन्तिम दिन तक उसी पद की शोभा को बढ़ाते रहे। इसके अतिरिक्त आप कई वर्षों तक लखनऊ-विश्वविद्यालय के विज्ञान-विभाग के प्रधान भी रहे। १९४३ में जब आपके प्रयत्नों से लखनऊ में *भूगर्भ-विभाग* खुला तो आप उसके भी आचार्य नियुक्त किये गए। इन समस्त कार्यों के साथ-साथ आपका अपना अनुसन्धान-कार्य भी प्रचलित रहे।

आचार्य साहनी का *वनस्पति-विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धान-कार्य*

कैम्ब्रिज में प्रारम्भ हुआ आरम्भ में *जीवित वनस्पतियों* पर कुछ कार्य करने के पश्चात् आपने *भारतीय वनस्पति अवशेषों* की दुबारा जाँच आरम्भ कर दी। आपसे पूर्व इनका वर्णन *फाइस्ट मान्टल* आदि विदेशी वैज्ञानिकों ने किया था, किन्तु उसमें आपने अनेक त्रुटियाँ पाईं और इन्हीं अवशेषों के संग्रह में अनेक नवीन अवशेषों को भी खोज निकाला। इसी प्रकार आपने और भी कई भारतीय वनस्पति-अवशेषों का अन्वेषण किया, जो भारत में ही नहीं, प्रत्युत विज्ञान के लिए सर्वथा नवीन हैं। आपके इन अन्वेषणों का विस्तृत वर्णन *रायल सोसायटी के फिलसोफिकल ट्रान्जेक्शन्स* और अन्य प्रख्यात वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ है। अपने लेखों में आपने पुरातन वनस्पति-अवशेषों का ही वर्णन नहीं किया, वरन् इनके आधार पर उनके कुल सम्बन्ध, वपस्पति जगत् के विकास तथा तत्कालीन भूगोल और जलवायु के विषय में अत्यन्त सुन्दर और विश्वसनीय मौलिक गवेषणाएं की हैं। आपके अनुसन्धान-कार्य वेगनर के *महाद्वीप विभाजन-सिद्धान्त दक्षिण पठार की आयु, ग्लोसोप्टरिस वनस्पतियों की उत्पत्ति और स्वभाव तथा मनुष्य जाति की उत्पत्ति के पश्चात् हिमालय के उत्थान* आदि अनेक जटिल तथा वाद-विवाद-युक्त भूगर्भ और वनस्पति-विज्ञान विषयक समस्याओं को हल करने में सहायता मिली है।

आचार्य साहनी का अनुसन्धान-कार्य वनस्पति और भूगर्भ विज्ञान तक ही सीमित नहीं है। आपने पुरातत्व सम्बन्धी भी अनेक अन्वेषण किये हैं। एक बार रोहतक के पास यमुना की उपत्यका का भ्रमण करते समय आपको खोकरा कोट नामक स्थान पर कुछ टूटे हुए मिट्टी के ठप्पे मिले जिनमें सिक्कों के चिह्न अंकित थे। बाद में वहाँ खुदाई करवाने पर आपको उसी प्रकार के हजारों ठप्पे और मिले, जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ पर ईसा से १०० वर्ष पूर्व यौधेय राजाओं की टकसाल रही होगी। इन इन ठप्पों की सहायता

से आपने तत्कालीन सिक्के ढालने की विधि का विस्तार पूर्ण वर्णन लिख डाला। इस कार्य के लिए आपको *भारतीय न्यूमिसमेटिक सोसायटी* ने एक पदक प्रदान किया। अनुसन्धान कार्य के अतिरिक्त और भी कई प्रकार से आपने विज्ञान की सेवा की है। *पुरा वनस्पति-विज्ञान मन्दिर* के अतिरिक्त आपने *भारतीय वनस्पति विज्ञान-परिषद् अखिल भारतीय-विज्ञान कांग्रेस, भारतीय वैज्ञानिक-एकेडेमी राष्ट्रीय वैज्ञानिक एकेडेमी, राष्ट्रीय विज्ञान मन्दिर* और *करेन्ट साइन्स* की स्थापना और संचालन में विशेष भाग लिया है।

विज्ञान की इन बहिर्मुखी सेवाओं के उपहारस्वरूप अनेक विदेशी तथा स्वदेशी वैज्ञानिक संस्थाओं ने आपको सब प्रकार से सम्मानित किया। सन् १६२६ में *एम्ब्रिज विश्वविद्यालय* ने आपको *एस० सी० डी०* की उपाधि प्रदान की। इस उपाधि के पाने वाले आप प्रथम भारतीय हैं। १६३६ में आप लन्दन की *रायल सोसायटी* के फैलो मनोनीत हुए। *अखिल भारतीय विज्ञान कांग्रेस* के आप १६२१ तथा १६३८ में वनस्पति विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं। १६२६ में भूगर्भ विभाग के अध्यक्ष और १६४० में प्रधानाध्यापक रह चुके हैं। आप अनेक अन्तर्राष्ट्रीय-वैज्ञानिक सभाओं में भारत के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। दो अन्तर्राष्ट्रीय-वनस्पति-विज्ञान-कांग्रेसों के उपसभापति रह चुके हैं। अभी हाल में आप स्वीडन में होने वाली आगामी अन्तर्राष्ट्रीय-वनस्पति-विज्ञान कांग्रेस के सभापति निर्वाचित हुए थे।

एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक होने के साथ ही आप सच्चे देशभक्त भी थे। स्वदेशी और खद्दर के तो आप बहुत पहले से ही प्रेमी थे। स्वच्छ सफेद खद्दर की अचकन, चूड़ीदार पायजामा, गान्धी टोपी और लाल पंजाबी जूता पहने हुए आप अपने सुन्दर रूप और स्वभाव से सबको मुग्ध और प्रभावित कर लेते थे। १६२२ में जब वेल्स के युवराज लखनऊ-विश्वविद्यालय में पधारे थे, तो आपने उनका बहिष्कार

किया था। कांग्रेस के पहले आन्दोलन के समय आपने उसमें भाग लेने का निश्चय किया, परन्तु बाद में विज्ञान द्वारा ही देश-सेवा करना अपने लिए यथेष्ट समझा। देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन के साथ सदैव आपकी सहानुभूति बनी रही। स्वदेशी के साथ आप राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसमें विज्ञान की शिक्षा के भी बहुत प्रेमी थे।

सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले इस विश्व-विख्यात देशभक्त वैज्ञानिक पर आज समस्त राष्ट्र को गर्व है। ऐसे ही देशभक्त वैज्ञानिकों द्वारा देश की उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा, ऐसी हमारी धारणा है।



स्वामी रामतीर्थ



रामकृष्ण परमहंस



स्वामी विवेकानन्द



योगिराज अरविन्द घोष



आचार्य विनोबा भावे



दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता

एक

स्वामी रामतीर्थ

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की गति तथा चेतना उन महान् दार्शनिकों से मिली है, जिन्होंने सत्य के साक्षात्कार को और तत्त्व के स्वरूप निर्णय को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानकर आजीवन कठोर तपस्या और सतत साधना की थी। *याज्ञवल्क्य, गौतम, अक्षपाद, जैमिनी, कपिल, पतंजलि, शंकर, कुमारिल, रामानुज* प्रभृति महान् मनीषियों की परम्परा ने भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत कर दिया। इन तत्त्ववेताओं ने मानव जीवन के चरम लक्ष्यों का स्वरूप निर्धारित किया, तत्त्व की मीमांसा की, पुरुषार्थ-प्राप्ति के साधनों की व्याख्या की, धर्म का स्वरूप स्पष्ट किया, व्यक्ति एवं समष्टि के सम्बन्ध की विवेचना की, मोक्ष का सम्यक् निर्धारण किया तथा विश्व के आदि-अंत का चिंतन किया। मानव के चिरन्तन प्रश्नों का जितना विशद एवं गम्भीर विवेचन इन भारतिय दार्शनिकों में हुआ, इतना अन्यत्र कहीं नहीं देखा। जीवनोन्मुख भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्तों से भारतीय संस्कृति अनुप्राणित तथा संचारित होती रही है, इसी कारण वह विश्व की अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा महान् है। *स्वामी रामतीर्थ* इन्हीं महान् भारतीय दार्शनिकों की पुरातन परम्परा को अर्वाचीन जीवन से संबद्ध करते हैं। उन्होंने चेतनाहीन पराधीन भारत को एक अपूर्व प्रकाश एवं प्रेरणा दी थी। जिसके फल स्वरूप शताब्दियों का अंधकार जागृति के प्रकाश में विलीन हो गया।

स्वामी रामतीर्थ का जन्म महाकवि तुलसीदास के गोसाईं वंश में दीपमालिका के दूसरे दिन बुधवार २२ अक्तूबर १८७३ को *गुजरान-*

वाला (पंजाब) मुरलीवाला नामक ग्राम में हुआ था। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की कि बालक आगे चलकर प्रतिभावान् व्यक्ति होगा, धर्म का संस्थापक होगा, विदेशों मे भ्रमण करेगा और ३३ वर्ष मे जल-सकट से जीवन समाप्त कर देगा। राम के जीवन में यह बातें अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुईं।

अभी राम दो वर्ष के भी नहीं हुए थे, कि उनके पिता ने पंडित रामचन्द्र की सुपुत्री से आपका विवाह निश्चित कर दिया। दसवें वर्ष में विवाह भी कर दिया गया ५ वर्ष की अवस्था में राम ने विद्याभ्यास प्रारम्भ कर दिया और सन् १८८८ में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से मैट्रिक की परीक्षा पास की। इसके पश्चात आप मिशन कालिज लाहौर में प्रविष्ट हुए और १८९० में एफ० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। १८९० में राम ने बी० ए० की परीक्षा में पुन: प्रथम स्थान प्राप्त किया। १८९५ में २० वर्ष की अवस्था में उन्होंने गणित शास्त्र लेकर प्रथम श्रेण में एम० ए० पास कर लिया।

स्वामी रामतीर्थ प्रारम्भ से ही भगवद्गीता में आस्था रखते थे। शारदा मठ के शंकराचार्य स्वामी राजेश्वर तीर्थ के सम्पर्क से वेदान्त की ओर आपकी प्रवृत्ति झुकी। अगस्त १८९७ में पुण्यसलिला गंगा के रम्य तट पर रामतीर्थ ने साधना के लिए एक कुटी बना ली और आत्म-साक्षात्कार में रत हो गए। २५ अक्तूबर १८९७ को दीपमालिका के दिन आपको आत्मबोध एवं वैराग्य हो गया। १९०१ के प्रारम्भ में आपने संन्यास ग्रहण कर लिया। इसके पश्चात् रामतीर्थ के नाम से प्रख्यात हो गए।

स्वामी विवेकानन्द की भांति स्वामी रामतीर्थ वेदान्त दर्शन के अद्वितीय प्रतिभा-संपन्न व्याख्याकार थे। उनके व्यक्तित्व में भारतीय श्रुति-परम्परा की परिणत हुई थी। उनके जीवन-दर्शन में जनहित, विश्वमैत्री, व्यष्टि, समष्टि के पूर्ण एक्य तथा विश्व के कल्याणमय स्वरूप का पूर्ण सामंजस्य हुआ था। उन्होंने व्यक्ति में आत्म-विश्वास का संचार किया

और बताया कि यह सीमित तथा पराधीन व्यक्ति वास्तव में दिव्य है तथा ब्रह्म तत्त्व का ही रूप है। उन्होंने वेदान्त की बड़ी सुन्दर व्याख्या है। कीउन्होंने बताया कि *वेदान्त का अभिप्राय आलस्यता निष्क्रियता नहीं, बल्कि आगे बढ़ाने वाला, गतिशील क्रम है। जड़तापूर्ण कष्टसाध्य कर्म नहीं, बल्कि आनन्द-जनक कार्यकलाप है; संशय की दुर्बलता नहीं, बल्कि समन्वयपूर्ण एकीकरण है; मत रूढ़िवाद नहीं, बल्कि सामयिक सुधार है; उड़नशील कल्पना नहीं, बल्कि तथ्य का काव्य है; जीवन-हीन श्रुति-उद्धरण नहीं, बल्कि वास्तविक साक्षात्कार है।* वेदान्त के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हिमालय की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह अपने स्थान पर रहकर ही व्यष्टि और समष्टि की तात्विक एकता का हृदय से अनुभव करके आत्म तथा समस्त जन के कल्याण साधन के द्वारा ही सम्भव है।

इसी प्रकार *समाजवाद* तथा *लोकतंत्र* का वेदान्त के साथ आपने सुन्दर *सामंजस्य* स्थापित किया है। आपने बताया है कि लोकतंत्र तथा समाजवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए व्यक्ति-भेद एवं वर्ग-भेद का उन्मूलन कर देना चाहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इस दृष्टि से समान रूप से महत्त्वपूर्ण है, और दूसरे को साधन बनाकर आत्महित का साधन रोकना समाजवाद का मुख्य लक्ष्य है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है कि *प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्तर प्राप्त करने की स्वतंत्रता होनी* चाहिये। *व्यक्ति का सिर चाहे कितना ही ऊंचा हो, किन्तु उसके पैर धरती पर होने चाहिएं, दूसरों के कन्धों पर या गले पर नहीं, चाहे वह व्यक्ति निर्बल हो, विरोधहीन ही क्यों न हो।* समाजवाद की ललकार पूँजीवाद का उच्छेद है, और इस अर्थ में उसका वेदान्त से साम्य है। वेदान्त अग्रहण का उपदेश देता है, इसलिए इस विषय पर समाजवाद तथा वेदान्त में ऐक्य है। समाजवाद वर्ग-भेद मिटाकर व्यक्ति-साम्य स्थापित करना चाहता है, इस कारण उसका नारा है कि अनावश्यक धन-संग्रह देय अधिकार संग्रह त्याज्य है। समाजवाद की निर्बलता यह है कि

वह इस आशय का उपदेश-मात्र करता है, इसके लिए समुचित हेतु उपस्थित नहीं करता। वेदान्त अपूर्ण समाजवाद की बाह्य दृष्टि को पूर्ण करता है, क्योंकि वह समाजवाद के प्रमुख आदेशों के लिए आध्यात्मिक आधार प्रस्तुत करता है। वह आधार है व्यष्टि एवं समष्टि का ऐक्य। स्वामी रामतीर्थ ने बताया कि *'समाजवाद'* एक ग़लत संज्ञा है क्योंकि इससे व्यक्ति की अपेक्षा समाज का अधिक महत्त्व जान पड़ता है, जो कि समाजवाद का वास्तविक अभिप्रेत नहीं है। इस कारण *'समाजवाद'* के स्थान पर *'व्यष्टिवाद'* कहना अधिक उपयुक्त है।

स्वामी रामतीर्थ ने इस निराधार धारणा का भी निराकरण किया है कि भारत का पतन आध्यात्मिक तथा पारमार्थिक दर्शन एवं वेदांत के कारण हुआ। उन्होंने बताया कि राष्ट्र के पतन का वास्तविक कारण यह था कि उसने वेदांत को केवल बौद्धिक रूप में ग्रहण किया और उसके अनुसार जीवन-यापन करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। साथ ही वेदांत का सच्चा स्वरूप समझने का राष्ट्र ने कभी प्रयास नहीं किया। और न ही संन्यास के वास्तविक अभिप्राय को ही समझा। वास्तव में भारत के इस दीर्घ पतन का कारण वेदांत से अनभिज्ञता ही था। घर में दीपक वर्तमान था, फिर भी हमने आँखें नहीं खोलीं और अब हम समझते हैं कि वह दीपक का प्रकाश ही हमारे दृष्टि अवरोध का कारण था।

स्वामी रामतीर्थ ने बताया कि *अपने विचारों, सम्यक् ज्ञान तथा अंतर के प्रकाश से ही व्यक्ति की उन्नति हो सकती है। इसी से व्यक्ति पर नियंत्रण हो सकता है। सब पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सम्यक् ज्ञान की अपेक्षा है,* चाहे *उसमें व्यक्ति का हित हो अथवा समाज का। सच्चे विकास तथा उन्नति का आधार वह अनुमितिजन्य ज्ञान है जिससे व्यष्टि-समष्टि विश्व का ऐक्य होता है। इसी का नाम 'वेदांत' है।* इस प्रकार का आदर्श विचार तथा ज्ञान व्यक्ति के व्यवहार में स्नेह, कल्याण-साधन तथा विश्वमैत्री का रूप धारण करता है। इसलिए राष्ट्र की वास्तविक

उन्नति का एक-मात्र राजमार्ग वेदांत का सम्यक् परिपालन है। आध्यात्मिकता द्वारा ही राष्ट्र की उन्नति हो सकती है। आध्यात्मिकता का अर्थ है—स्वतंत्रता, न्याय और विश्व-मैत्री।

सन् १६०२ में जापान में *धर्म-सभा* का आयोजन हुआ था। जिसमें सभी धर्मों के प्रतिनिधि आमंत्रित थे। टिहरी के महाराजा की प्रार्थना से स्वामी रामतीर्थ ने २८ अगस्त को *जापान के लिए प्रस्थान* किया। वहाँ टोकियो कालिज में *'सफलता की कुंजी'* नाम से आपने अत्यन्त प्रभावशाली भाषण दिया था, जिसने श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। उपस्थित जनों में प्रोफेसर और छात्र सभी थे। वे आपको जापान से *अमरीका* ले गए। वहाँ आपने अनेक वेदान्त विषयों पर सुन्दर एवं आकर्षक व्याख्यान दिये, जो बाद में *"ईश्वर साक्षात्कार के पुण्य में"* के नाम से दो भागों में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे।

१६०४ के अन्त में स्वामी रामतीर्थ पुनः भारत वापस आ गए। इसके पश्चात् प्रायः एक वर्ष तक भ्रमण करके *प्रचार-कार्य* करते रहे। नवम्बर १६०५ में आप *हिमालय-निवास* के लिए चले गए। इसके पश्चात् एक दिन गंगा में स्नान करते समय स्वामी रामतीर्थ प्रबल धारा में बह गए। इस प्रकार आपने ३३ वर्ष की अवस्था में *जल-समाधि* ले ली।

स्वामी रामतीर्थ तथा गांधी जी के जीवन-दर्शन में कोई भिन्नता नहीं है। गांधी जी के *जीवन-दर्शन* में जो सत्य का साक्षात्कार है, वही स्वामी राम के जीवन-दर्शन में व्यावहारिक वेदान्त है। वास्तव में स्वामी रामतीर्थ भारत के उन महान् दार्शनिकों में थे, जिन्होंने अपनी आध्यात्मिकता के प्रकाश से राष्ट्र को ज्योतित कर दिया।

दो

रामकृष्ण परमहंस

प्राचीनकाल से ही भारत में ऐसे सन्तों की परम्परा चली आती है, जिन्होंने महान्धकार के समय में अपने *आत्मज्ञान एवं तपोबल* के आलोक द्वारा पथ-भ्रष्ट मानव-जाति का *पथ-प्रदर्शन* किया है। सन्तों के पावन पाद-पद्मों में जो अनवरत आनन्द-सलिल बहता है, उस चरणोदक से अनेक बार ही क्यों, सदैव ही मानव-जाति का कल्याण हुआ है। यही कारण है कि धार्मिक विभिन्नता होते हुए भी सभी जातियाँ अपने-अपने सन्तों को श्रद्धांजलि समर्पित करती हैं और उनकी गौरव-गाथा से शिक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न करती हैं। *सन्तों की वाणी, उनके उपदेश, उनका जीवन और उनके आदर्श सदैव ही मनुष्य जाति के लिए कल्याण-प्रद रहे हैं।* उनके पावन-जीवन के प्रताप से ही उनके नाम पर किये गए कार्यों में स्वतः पावनता आ जाती है। जब शत्रु के उष्ण रक्त का प्यासा सिपाही भी सेन्ट जार्ज की दुहाई देकर प्रबल वेग से आक्रमण करता है, तो उससे भी हमारी सहानुभूति हो जाती है। शिवाजी के हृदय में एक बार ही शौर्य, साहस और कर्त्तव्य-पालन की लगन समर्थगुरु रामदास ने ही उत्पन्न की, गुरु गोविन्दसिंह तथा उनके अबोध बालकों के हृदय में गुरु नानक के उपदेशों ने ही बलिदान-भावना जागृत की; विश्व-प्रसिद्ध सम्राट् अशोक के चरित्र को भगवान् बुद्ध के वचनों ने उज्ज्वलतम बनाया। अर्वाचीन युग में बंगाल के स्वामी रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों और आदर्श कृत्यों के सामने भी आज समस्त संसार सिर झुका रहा है। एक अशिक्षित सामान्य पुजारी ने ऐसा विलक्षण कार्य कर दिखाया, जो बड़े-बड़े कर्मवीर नहीं कर सकते थे।

श्री रामकृष्ण परमहंस का जन्म २० फरवरी १८३३ ई० को बंगाल के *कुमार पुकुर* नामक ग्राम में, खुदीराम ब्राह्मण के घर में हुआ। खुदीराम एक निर्धन, किन्तु सीधे-सादे, सात्विक एवं ईश्वर-भक्त ब्राह्मण थे। उनके घर में नित्य सालिग्राम जी की पूजा होती थी। रामकृष्ण परमहंस का वास्तविक नाम गदाधर था, संन्यास लेने पर रामकृष्ण परमहंस कहलाये।

पं० खुदीराम बालक गदाधर को अपने समान ही धर्म-निष्ठ एवं ईश्वर-भक्त बनना चाहते थे। वे गदाधर को अपने समीप बैठाकर रामायण, महाभारत आदि की कथा सुनाया करते और गदाधर दत्तचित्त होकर प्रेमपूर्वक उन कथाओं को सुनता। फलस्वरूप बाल्यावस्था में ही उन्हें ईश्वर-भक्ति एवं धर्म में पूर्ण निष्ठा होगई। वे अपने पिता द्वारा बताई हुई कथाओं को छोटे-छोटे बच्चों के बीच में बैठकर उन्हें सुनाया करते थे।

पाँच वर्ष की अवस्था में उन्होंने *पाठशाला* में प्रवेश किया। गदाधर की बुद्धि बड़ी कुशाग्र तथा स्मरण-शक्ति तीव्र थी। साथ ही उनका स्वभाव अत्यन्त सरल तथा व्यवहार अति सुन्दर था। जिसके कारण व कुछ ही दिनों में पाठशाला के अध्यापकों के प्रिय बन गए। पाठशाला में पढ़ते समय वे सभी धार्मिक कृत्यों एवं समारोहों में भाग लिया करते थे। जब वे अपने मृदुल एवं कोमल स्वरों में भगवद्भक्ति के गाने सुनाते, तो ग्राम निवासी सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाते। रामलीला में वे राम का अभिनय किया करते थे और कृष्ण-लीला में राधा का अभिनय करते-करते वे इतने तल्लीन हो जाते कि आत्म-विस्मरण की स्थिति हो जाती थी। एक बालक का इतना सुन्दर अभिनय देखकर सभी आश्चर्य-चकित एवं गद्-गद् हो जाते। इस प्रकार बाल्यकाल में ही वे भावपूर्ण समाधि लगा जाते थे। इस भावपूर्ण समाधि से सम्बन्धित उनके शैशवकाल की एक घटना बड़ी मनोरंजक है। वर्षा ऋतु में एक बार वे अपने मित्रों के साथ

जंगल की सैर को गये। शीतल वायु अपनी मंद गति से चल रही थी। आकाश काले मेघों से आच्छादित था। गदाधर एकटक काले मेघों की ओर निहारने लगे। सहसा उन्होंने देखा कि काले मेघों के बीच श्वेत बगुलों की पंक्ति उड़ी चली आ रही है। उन्हें देखकर बालक गदाधर को ईश्वर-महिमा का स्मरण हो आया। वे एकटक बगुलों की पंक्ति को निहारते-निहारते ईश्वर-चिन्तन में इतने तल्लीन हो गए, कि मानो शरीर प्राण-रहित हो गया हो। अन्त में मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। साथी उठाकर घर लाये। बहुत देर बाद उन्हें चेत हुआ।

पाठशाला में गदाधर ने पढ़ने-लिखने में विशेष उन्नति न की। कारण, प्रारम्भ से ही उनकी अन्तः प्रेरणा ईश्वर-भक्ति की ओर हो गई थी। ग्राम के कुम्हार के लड़कों के साथ मिलकर वे छोटे-छोटे देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ बनाया करते थे। चित्रकारों के पास जाकर चित्र बनाना सीखते थे। ७ वर्ष की आयु में जब उनके पिता की मृत्यु हो गई, तो उनके बड़े भाई रामकुमार ने परिवार का भार सँभाला।

पिता की मृत्यु के पश्चात् गदाधर के जीवन में कुछ परिवर्तन हो गया था। वे प्रत्येक क्षण अपनी माता के साथ रहते और स्वयं अपनी वेदना को छिपाकर माता को प्रसन्न रखने की चेष्टा किया करते थे। इसी बीच उन्हें एक और सनक सवार हुई। प्रायः एकान्त स्थान में बैठकर वे देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ बनाकर उनकी पूजा किया करते। कभी-कभी श्मशान में जाकर बरगद के पेड़ के नीचे ध्यान लगाकर बैठ जाते। जब साधुओं के सत्संग में रहते तो प्रायः उनके पास ही बैठे रहते। उनकी सेवा करते और उनके स्तोत्र-पाठ तथा भजन आदि बड़ी भक्ति से सुनते। कभी-कभी साधुओं का भेष बना, शरीर पर भस्म लगा माता के पास चले जाते, माता देखकर गद्गद् हो कण्ठ से लगा लेतीं।

पं० खुदीराम की मृत्यु के पश्चात् इनके घर की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। अपने कुछ मित्रों के आग्रह से रामकुमार ने कलकत्ता जाकर धन कमाने का निश्चय किया। रामकुमार ने कलकत्ता जाकर आमापुकुर नामक मोहल्ले में पाठशाला खोलकर बच्चों को पढ़ाने का कार्य आरम्भ कर दिया। कुछ समय पश्चात् उन्होंने पढ़ाने-लिखाने के विचार से गदाधर को भी अपने पास बुला लिया। अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त रामकुमार धनी-मानी लोगों के घर पर जाकर पूजा-पाठ एवं कथा-वार्ता भी किया करते थे। गदाधर ने भी उनके इस कार्य में सहयोग देना आरम्भ कर दिया। जिस समय यह सरल स्वभाव का निष्ठावान् ब्राह्मण-कुमार यजमान के घर पूजा करने बैठता, उस समय ऐसा प्रतीत होता, मानो स्वयं देवता आकर हाथ पसारे उसके भक्ति-अर्घ को ले रहे हैं। जिस समय वे अपने मधुर कंठ से पूजा के मन्त्रों का उच्चारण करते, जान पड़ता कि प्रस्तर की प्रतिमा उनकी प्रार्थना सुन रही है।

कलकत्ता के जान बाजार मोहल्ले में राजचंद्र दास नामक एक प्रतिष्ठित जमींदार रहते थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी रानी ने गंगा के किनारे दक्षिणेश्वर नामक स्थान में एक बड़ा भारी काली का मंदिर बनवाया। उस मंदिर में उन्होंने जब द्वादश-लिंग शिव की स्थापना करानी चाही, तो सब ब्राह्मणों ने यह कहकर मंदिर में मूर्ति-स्थापन से इन्कार कर दिया कि रानी एक केवट जाति में उत्पन्न हुई है, इसलिए कोई कुलीन ब्राह्मण उनके मंदिर में मूर्ति-स्थापना न करा सकेगा। रानी बड़ी निराश हुई। जब रामकुमार को यह समाचार ज्ञात हुआ तो उन्होंने रानी को समझाया कि पण्डित लोग मिथ्या-भिमान के कारण ऐसा कह रहे हैं; यदि आप अपने कुलगुरू के नाम पर इस मंदिर को समर्पित कर दें तो कोई भी कुलीन ब्राह्मण मंदिर में मूर्ति-स्थापित करा सकेगा। रानी ने रामकुमार की बात स्वीकार करके मूर्ति-स्थापना का कार्य-भार उन्हीं पर डाल दिया। बड़े समारोह के

साथ मूर्ति स्थापित की गई। गदाधर ने भी इस उत्सव में भाग लिया और बाद में इसी मंदिर में रहकर काली माता की पूजा का कार्य-भार संभाल लिया।

गदाधर बड़ी श्रद्धापूर्वक काली माता की पूजा करने लगे। उन्होंने काली माता के दर्शनों के लिए अनवरत साधना प्रारम्भ कर दी। वे काली माता की मूर्ति के चरण पकड़कर रोने लग जाते थे। कभी उनका अंचल पकड़ कर कहते कि 'मां मुझे दर्शन दो।' प्रस्तर- प्रतिमा की पूजा से उन्हें शांति न मिलती थी, वे माता का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते थे। कहते हैं, उनकी अनवरत साधना तथा अनन्य-प्रेम से प्रसन्न होकर काली माता ने उन्हें दर्शन दिये।

इसके पश्चात् उन्होंने दास्य-भाव से रामचन्द्र जी उपासना आरम्भ की। हनुमान की भाँति वे राम की सेवा करते थे। कभी बंदरों की भाँति पेड़ों पर चढ़ जाते, एक डाली से दूसरी डाली पर जाते, फल तोड़-तोड़कर खाते और नीचे भी गिराते जाते। उनके इन कार्यों से लोगों को विस्मय हुआ करता था। अंत में अपनी इस दास्य-भक्ति के कारण उन्हें रामचन्द्र के भी दर्शन हुए। ऐसा लोगों का विश्वास है।

उनकी माता को गाँव में जब उनकी इन ऊट-पटाँग बातों की सूचना मिली, तो वे इनके दर्शनों के लिए अधीर हो उठीं। रामकुमार को संदेश भेजकर गदाधर ने गाँव में बुलवाया और अपने प्रिय पुत्र से मिलकर वे बड़ी प्रसन्न हुईं। गाँव में आकर भी गदाधर की साधना निरंतर चलती रही। वहाँ वे रात्रि के समय श्मशान-भूमि में जाकर ईश्वर-ध्यान में मग्न हो जाते। उनकी ऐसी दशा देखकर माता ने उनका विवाह करने का निश्चय किया। गदाधर ने विवाह कराना स्वीकार न किया; किन्तु अंत में माता के बहुत आग्रह करने पर उन्होंने माँ की आत्मा को संतुष्ट करने के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। कुछ दिनों पश्चात् श्रीराम मुखोपाध्याय की गुणवती कन्या से

इनका शुभ विवाह-संस्कार समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ।

किंतु विवाह हो जाने से गदाधर की तपश्चर्या में कोई अंतर नहीं आया। वे बराबर अपनी साधना करते रहे। कुछ दिन गाँव में रहने के पश्चात् वे पुनः दक्षिणेश्वर लौट आये। काली माता के मंदिर में साधना करने लगे। कुछ समय पश्चात् एक संन्यासिनी से इनकी भेंट हुई। उसने इनको तंत्र शास्त्र कि विधि के अनुसार तांत्रिक-साधना की क्रिया बतलाई। अब गदाधर तांत्रिक साधना में तल्लीन हो गये। इसके पश्चात् उन्होंने वैष्णव मत की भिन्न-भिन्न शाखाओं के मतानुसार साधना की। अंत में गदाधर की स्थिति श्री चैतन्य महाप्रभु के समान हो गई। किंतु इन विभिन्न प्रकार की साधनाओं में भी उनको शांति नहीं मिली। सहसा उनकी भेंट एक दिन तोतापुरी नामक संन्यासी से हुई। उन्होंने इनको शास्त्र-विधि के अनुसार संन्यास दिया और इनका नाम बदलकर रामकृष्ण परमहंस रखा। अब रामकृष्ण परमहंस ने शास्त्र-विधि से साधना प्रारम्भ की और तीन दिन की साधना में ही वे समाधि की उस ऊँची दशा प्राप्त को हो गये, जिसे निर्विकल्प कहते हैं। इसके पश्चात् भी उन्होंने विभिन्न धर्मों के मतानुसार साधना करके यही निष्कर्ष निकाला कि सभी धर्मों में ईश्वर एक ही है। केवल उसकी प्राप्ति के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

जब श्री रामकृष्ण परमहंस को आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो चुकी, तो उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। थोड़े ही दिनों में समस्त देश में उनकी प्रसिद्धि फैल गई। दूर-दूर से लोग उनके दर्शनों को आते और उनका उपदेश सुनकर लाभ उठाते। उन्हीं दिनों ब्रह्मसमाज के प्राण केशवचन्द्र सेन से आपका परिचय हुआ। वह आपके उपदेश सुनकर आपके अनन्य भक्त बन गए। बाबू केशवचंद्रसेन उन दिनों 'सुलभ-समाचार' नाम का समाचार-पत्र निकालते थे। उन्होंने उस समाचार-पत्र में श्री रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में लेख प्रकाशित किये और साथ ही परमहंस जी के उपदेश

एवं व्याख्यान तो समाचार-पत्र में प्रकाशित होने लगे। इससे आपकी ख्याति और भी अधिक फैल गई और आपके उपदेशों ने देश-भर में एक नवीन आलोक का प्रसार कर दिया। आपके उपदेशों ने हजारों नास्तिकों को आस्तिक बनाया। उन दिनों ईसाई धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव में आकर असंख्य नवयुवक ईसाई बन रहे थे, *परमहंसजी के उपदेशों ने अनेक पथभ्रष्ट युवकों को ईसाई बनने से बचाया। इस प्रकार आपने अपने महान् तपोबल और उपदेशों द्वारा भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की।* यही आपके जीवन का का महान् कार्य था।

श्री रामकृष्ण परमहंस की शारीरिक और मानसिक प्रकृति अत्यन्त कोमल थी। न वे अधिक उष्णता सहन कर सकते थे, न अधिक शीत। एक बार अधिक सर्दी लग्ने के कारण वे रुग्ण हो गए, उनका गला सूज गया और बढ़ते-बढ़ते एक बड़ा घाव हो गया। जब साधारण दवा-दारू से लाभ न हुआ तो उन्हें चिकित्सा के लिए कलकत्ता लाया गया। योग्यतम डाक्टरों की चिकित्सा से भी उन्हें कोई लाभ न हुआ। बीमारी के दिनों में, जब डाक्टरों ने उन्हें बोलने से मना कर दिया था, वे बराबर अपना उपदेश दिया करते थे। उस समय वे अत्यन्त निर्बल हो गये थे शरीर में अस्थियों के अतिरिक्त कुछ शेष न रहा। ऐसी अवस्था में भी वे समाधि लगाया करते थे। एक दिन श्रावण की पूर्णिमा को उन्होंने नित्य की भाँति समाधि लगाई, किन्तु उनकी वह समाधि अचल समाधि थी, जो आज तक भी न टूटी। उनका महान् आत्मा नश्वर शरीर को त्याग कर परमात्मा में विलीन हो गया। उनकी मृत्यु का सारे देश में शोक मनाया गया।

तीन

स्वामी विवेकानन्द

भारतीय इतिहास के संक्रान्तिकाल में, इस पराजित जाति के अधःपतन की चरमावस्था में संन्यास के महावीर्य का आश्रय लेकर जिन महापुरुषों ने धर्म, समाज और राष्ट्र में समष्टि-मुक्ति के महान् आदर्श को प्रतिष्ठित किया है, उनके कार्य तथा उपदेशों का ऐतिहासिक महत्त्व इतने अल्प काल में हृदयंगम कर लेना बहुत ही कठिन है। समाज की श्रेणियों में जिस समय उच्च और नीच का भेद असहनीय हो उठता है, राजदण्ड जहाँ दुर्बलों को अन्यायपूर्वक व्यर्थ पीड़ित करता रहता है, मानव समाज में जिस समय धर्म की ग्लानि प्रकट होती है, अत्याचार पूर्ण दुर्नीतियाँ जब शतशः रूप धारण करती हुई दीख पड़ती हैं, विनाश जब अवश्यम्भावी तथा निकट हो जाता है, तब पुरातन की जीर्ण मृतदेह को श्मशान-चिता में फूँक कर उसी की राख-ढेरी पर नवस्फुलिंग द्वारा फिर से एक नई सृष्टि का सूत्रपात होता दिखाई देता है। इसी नव-निर्माण के लिए स्वामी विवेकानन्द-जैसे महापुरुषों का प्रादुर्भाव होता है।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १२ जनवरी १८६३ को कलकत्ता में श्री विश्वनाथदत्त के घर में हुआ। उनकी माता भुवनेश्वरी देवी बड़ी धर्म-परायणा एवं प्राचीन पंथी हिन्दू महिला थीं। श्री विश्वनाथ एक समृद्धिशाली तथा उदार-हृदय व्यक्ति थे। अतः सुख-ऐश्वर्य के आनन्द-प्रद वातावरण में विवेकानन्द का पालन-पोषण होने लगा। उनका बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ था। बचपन में नरेन्द्र बड़े नटखट थे। कभी-कभी तो उनकी चंचलता के कारण उनके माता-पिता भी तंग आ जाते थे। किन्तु चंचल प्रवृत्ति का बालक होने पर भी उनके चरित्र में

शैशव काल ही से साधारण बालकों की अपेक्षा कुछ अधिक वैशिष्ट्य देखने में आता था। खेलते समय साधारण बात को लेकर जब कोई झगड़ता, तो वे बड़े असन्तुष्ट होते थे और स्वयं अग्रसर होकर फैसला कर दिया करते थे।

हम ऊपर बता चुके हैं कि नरेन्द्र की माता बड़ी धर्म-परायणा तथा पूजा-पाठ में रत रहने वाली महिला थीं। बालक नरेन्द्र पर भी उनका प्रभाव पड़ना आवश्यक था। माता के मुख से रामायण और महाभारत की कथाएं सुनकर बाल्यावस्था में ही नरेन्द्र पहले सीताराम और बाद में शिव के परम-भक्त हो गये थे। माता का अनुकरण करके वे प्रतिदिन शिव-पूजा करते थे। कभी पद्मासन में बैठकर ध्यान लगाते थे तो कभी अपने साथियों को बुलाकर सब मिलकर शिवमूर्त्ति के चारों ओर घिरकर ध्यानस्थ होकर बैठते थे। साधुओं के दर्शन से वे बड़े प्रसन्न होते थे। उन्हें दान देने में तथा उनके उपदेश सुनने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। कभी-कभी माता से कहते—*माँ अगर मैं साधु हो जाऊँ, तो मुझे शिव भगवान् के दर्शन हो जायँगे?* माँ उनके मृदु स्वर से ऐसी बात सुनकर गद्गद् हो कण्ठ से लगा लेती। माता क्या जानती थी कि यही नरेन्द्र एक दिन संन्यासी होकर संसार का एक महान् मानव बनेगा।

५ वर्ष की अवस्था में घर पर नरेन्द्र की शिक्षा प्रारम्भ हुई। उन्होंने अपनी चंचलता और नटखटपन से अध्यापक महोदय को भी परेशान कर दिया था। प्राथमिक शिक्षा समाप्त होने पर नरेन्द्र *मेट्रोपोलिटन इन्स्टिट्यूशन* में भेज दिये गए। यहाँ अपने समवयस्क सहपाठियों का साथ पाकर उनके आनन्द की सीमा न रही। नरेन्द्र पढ़ते-लिखते कम थे, खेलते-कूदते अधिक थे। फिर भी वे कुछ पढ़ते थे, उस पर गम्भीर विचार करते थे। तर्क-वितर्क करने में वे आरम्भ से ही निपुण थे। हिन्दू घरों में माने जाने वाले देशाचार तथा लोकाचार जैसे छोटे-छोटे नियमों को वे नहीं मानते थे। वे अपने माता-

पिता से प्रश्न किया करते थे—*भात की थाली छूकर बदन पर हाथ लगाने से क्या होता है ? बायें हाथ से जलपात्र उठाकर जल पीने से हाथ क्यों धोना पड़ता है ? हाथ में तो भला जूठा लगा नहीं ?* आदि आदि प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर दे देने में कभी-कभी माता-पिता भी हतबुद्धि हो जाया करते थे।

दूसरों से सुनकर किसी बात पर विश्वास कर लेना नरेन्द्र के स्वभाव के विरुद्ध था। बचपन से ही किसी बात पर प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना वे विश्वास करना नहीं जानते थे। युवावस्था में इसी भाव की प्रेरणा से नरेन्द्रनाथ पुस्तक में लिखे दार्शनिक तत्त्व की आलोचना से तृप्त न होकर सत्य की प्राप्ति के लिए साधना में प्रवृत्त हुए थे।

चौदह वर्ष की आयु में नरेन्द्र के पेट में रोग हुआ। निरन्तर कई दिनों तक रुग्ण रहकर उनका शरीर अस्थि-चरम-मात्र रह गया। उस समय विश्वनाथ अपने काम के सिलसिले में मध्यप्रदेश के अन्तर्गत रायपुर में रहते थे। जल-वायु-परिवर्तन से स्वास्थ्य की उन्नति होगी, इस आशा से उन्होंने अपने परिवार को रायपुर बुला लिया। १८७७ ई० में नरेन्द्र रायपुर में पिताजी के पास पहुँच गए।

रायपुर में उस समय स्कूल नहीं था। अतएव विश्वनाथ पुत्र को स्वयं शिक्षा देने लगे। पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त इतिहास, दर्शन तथा साहित्य-सम्बन्धी अनेक पुस्तकें वे पुत्र को पढ़ाने लगे। पुत्र की विकासोन्मुख बुद्धि व प्रतिभा को भली भाँति जानने के कारण विश्वनाथ ने नरेन्द्र की शिक्षा-पद्धति में कुछ परिवर्तन कर दिया। वे पुत्र के साथ अनेकानेक विषयों पर तर्क किया करते थे। और नरेन्द्र को स्वाधीन भाव से अपना मत प्रकट करने का अवसर देते थे। इधर नरेन्द्र भी पिता के ज्ञान की गम्भीरता से मुग्ध हो जाते। संसार में हमेशा ही श्रद्धावान् भक्त वांछित वस्तु को प्राप्त करते हैं। नरेन्द्र ने दो वर्ष तक पिता के पास रहकर केवल ज्ञान-लाभ ही न किया, बल्कि उनके किशोर चरित्र पर पिता की महानता की गम्भीर

छाप भी पड़ी। तेजस्विता, दूसरों को दुःखी देखकर विकल होना, विपत्ति में धैर्य को न छोड़ते हुए निर्विकार चित्त से अपना कर्त्तव्य करते जाना नरेन्द्र ने अपने पिता से ही सीखा था। शिक्षा के साथ ही उन्होंने पिता के चरित्र की विशिष्टता को भी अपना लिया था।

दो वर्ष तक रायपुर में रहने के पश्चात् नरेन्द्र सोलह वर्ष की आयु में कलकत्ता लौट आये। उस समय उनके दीर्घ और बलिष्ठ शरीर को देखकर लोग उनकी आयु का अनुमान २० वर्ष तक लगाते थे। कलकत्ता में आकर वे पुनः *मेट्रोपोलिटन इन्स्टियूशन* की प्रवेशिका श्रेणी में भर्ती हुए। निरन्तर दो वर्ष तक ग़ैर-हाज़िर रहने पर भी उन्होंने कड़े परिश्रम द्वारा दो वर्ष की शिक्षा एक ही वर्ष में समाप्त कर ली। परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। उनकी इस सफलता पर परिवार वालों के साथ-साथ स्कूल के अधिकारियों को विशेष रूप से प्रसन्नता हुई।

सन् १८७६ ई० में प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण होकर नरेन्द्रनाथ ने कालिज की शिक्षा प्राप्त की। इस समय उन्होंने दर्शन शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। पश्चात्य विज्ञान तथा दर्शन-शास्त्र समूह का भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया। डेकार्ट का अहंवाद, ह्यूम व बेन की नास्तिकता, डार्विन का विकासवाद और स्पेन्सर का अज्ञेयवाद इत्यादि विभिन्न दार्शनिकों की विचार-धाराओं में इतस्ततः बहते हुए नरेन्द्रनाथ सत्य की प्राप्ति के लिए व्याकुल हो उठे। अशान्त मन की इसी प्यास को बुझाने के लिए वे ब्रह्मसमाज में सम्मिलित हुए। किन्तु उनका स्वाभाविक वैराग्यशील मन ब्रह्म समाज में त्याग तथा ज्वलन्त धार्मिक-बुद्धि की न्यूनता को देखकर उस समाज की प्रणाली-बद्ध उपासना से शान्त न हुआ।

१८८० ई० के नवम्बर मास में नरेन्द्रनाथ का परिचय *श्री रामकृष्ण परमहंस* से हुआ। नरेन्द्र को देखते ही परमहंस जी जान गए कि *यह असाधारण युवक एक दिन संसार का महान् व्यक्ति बनेगा और सच्चे*

ज्ञान का प्रसार करके मानव जाति का कल्याण करेगा। नरेन्द्र भी स्वामीजी के अलौकिक व्यक्तित्व, प्रेमपूर्ण व्यवहार तथा सदुपदेशों से प्रभावित हुए। उन्होंने दक्षिणेश्वर में परमहंस जी के पास आना-जाना आरम्भ कर दिया। परमहंसजी भी बड़ी श्रद्धा तथा प्रेम के साथ अपना उत्तराधिकारी तैयार करने लगे। नरेन्द्र की यह दशा देखकर उनके पिता ने उन्हें विवाह-बन्धन में बाँधने की भरपूर चेष्टा की, किन्तु नरेन्द्र ने विवाह कराने से साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—*ईश्वर-प्राप्ति ही मेरे जीवन का उद्देश्य है, मैं इसकी प्राप्ति के लिए प्राणों तक की आहुति दे दूंगा।"*

प्रारम्भ में तो नरेन्द्र के मन में श्री रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों एवं सिद्धांतों के प्रति अनेक भ्रम एवं संदिग्ध भावनाएं उठती रहीं, किन्तु अंत में वे पूर्ण रूप से उनके अनुयायी बन गए। दर्शन-शास्त्र तथा वेदान्त आदि का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करके अनवरत साधना में लीन हो गए। यद्यपि उनके मार्ग में अनेक पारिवारिक एवं सामाजिक बाधाएं उपस्थित हुईं। तथापि वे अपनी साधना से विचलित न हुए। अन्त में पिता की मृत्यु से तो उनके जीवन में महान् परिवर्तन होगया।

सन् १८१८ ई० को श्री रामकृष्ण परमहंस नरेन्द्र को संन्यास ग्रहण कराकर, अपनी दैवी शक्ति एवं अपार ज्ञान उसे देकर परलोक सिधार गए। नरेन्द्र अब स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रख्यात हो गए। उन्होंने 'रामकृष्ण संघ' की स्थापना करके अपने गुरुजी के सिद्धान्तों का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। कुछ ही दिनों में समस्त देश में उनकी ख्याति फैल गई। स्वामी विवेकानन्द ने देश के समस्त तीर्थों एवं बड़े-बड़े नगरों का भ्रमण करके धर्म का प्रचार किया। वे अद्वैतवादी थे। उनके उपदेशों ने नास्तिकों को आस्तिक बनाया, पथ-भ्रष्टों को मार्ग दिखाया और धर्म-च्युत समाज ने एक बार पुनः धार्मिकता, आध्यात्मिकता तथा दार्शनिकता के शुचितर मार्ग को ग्रहण किया।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन का महत्त्वपूर्ण कार्य है, विदेशों में हिन्दू धर्म का प्रचार करके उसकी विशिष्टता की धाक जमाना। सन् १८९३ ई० में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में शिकागो-सम्मेलन के साथ-साथ एक धर्म-सभा का आयोजन हुआ। ऐसा घोषित किया गया कि संसार के सभी धर्मों के प्रतिनिधि-गण उसमें सम्मिलित होंगे। स्वामी जी के शिष्यों ने उन्हें धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अमरीका भेजने का निश्चय किया। अन्त में खेतरी महाराज के प्रबन्ध से स्वामीजी ने, हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में विदेशियों के भ्रमपूर्ण विश्वासों को दूर करके उसके उदार भावों का आधुनिक वैज्ञानिक युक्तियों द्वारा प्रचार करने के लिए, पाश्चात्य जड़वाद के उन्मत्त कोलाहल का मंथन करके त्याग की पवित्र वाणी सुनाने के लिए तथा भारत के श्रेष्ठतम आध्यात्मिक सत्य-रत्नों की जगत् की सभ्यता को परख करा देने के लिए ३१ मई १८९३ ई० को भारत से *शिकागो की ओर* प्रस्थान किया।

शिकागो में स्वामीजी के प्रथम व्याख्यान ने पाश्चात्य विद्वानों की आँखें खोल दीं। इसके पश्चात् तो उनके व्याख्यानों की झड़ी-सी लग गई। असंख्य अमरीकन जन-समूह बड़े उत्साह पूर्वक उनके उपदेश सुनने के लिए उमड़ पड़ता था। अमरीका के विभिन्न बड़े-बड़े नगरों में उनके व्याख्यान हुए। अमरीकन पत्र-पत्रिकाओं ने बड़े गौरव के साथ उनकी प्रशंसा एवं व्याख्यान प्रकाशित किए। अमरीका निवासियों ने प्रथम बार हिन्दू-धर्म के ज्योतिर्मय ज्ञान का दर्शन स्वामी विवेकानन्द से किया। बड़े-बड़े नगरों में उनके चित्र लटकाये गए। बहुत से युवक उनके अनुयायी बनकर उनसे दर्शन-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने लगे। कतिपय पादरियों को हिन्दू-धर्म पर आस्था होने लगी। मि० स्नेल द्वारा उक्त महासभा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध पत्रिका "पायोनियर" में जो लेख प्रकाशित हुआ था, उसके एक अंश से ही हमें पता लग जायगा कि स्वामीजी ने पाश्चात्य समाज व धर्म के ऊपर कैसे असाधारण प्रभाव का विस्तार किया था—

"हिन्दू धर्म ने इस महासभा व जन-साधारण के ऊपर जिस प्रभाव का विस्तार किया है, वैसा करने में कोई भी दूसरा धर्म-संघ समर्थ नहीं और। हिन्दू-धर्म के एक-मात्र आदर्श प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ही इस महासभा के निर्विवाद रूप से अधिक लोकप्रिय व प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। उन्होंने इस धर्म महामंडली के व्याख्यान-मंच पर तथा विज्ञान-शाखा की सभा में प्रायः भाषण दिये हैं। ईसाई अथवा अन्य किसी भी धर्म के व्याख्याता को किसी भी समय इस प्रकार के उत्साह के साथ आदर प्राप्त नहीं हुआ। वे जहाँ भी जाते थे, जनता की भीड़ उमड़ पड़ती थी और लोग उनकी प्रत्येक बात सुनने के लिए आग्रह के साथ उत्कण्ठित रहा करते थे। महासभा के बाद से ही वे संयुक्त राष्ट्र के प्रधान-प्रधान नगरों में विराट जनसमूह-के समक्ष भाषण दे रहे हैं। और सभी स्थानों पर वे विशेष रूप से अभिमन्त्रित हो रहे हैं। उन्हें ईसाई धर्म-मन्दिरों की वेदियों से भाषण देने के लिए अनेक बार बुलाया गया है। घोर कट्टर ईसाई भी उनके सम्बन्ध में कह रहे हैं, कि स्वामीजी मनुष्यों के बीच में 'अति-मानव हैं।'

अमरीका के पश्चात् स्वामी जी को इंगलैंड में आमन्त्रित किया गया। वहाँ भी इनके व्याख्यानों ने एक पवित्र प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित कर दी। इंगलैंड के सभी प्रमुख नगरों में स्वामी जी के व्याख्यान हुए। वहाँ भी इन्हें अपूर्व आदर व सम्मान प्राप्त हुआ। इस प्रकार निरन्तर चार वर्ष तक स्वामी जी ने पाश्चात्य-देशों को अपने वाणी-अमृत से आप्लावित किया। आपके विरोधियों ने आपको निन्दित करने तथा प्रचार-कार्य में बाधा डालने के लिए घृणित प्रचार भी किया, किन्तु उससे आपके कार्य और सम्मान में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा। आप सतत सिंह-विक्रम के साथ अपने आचार्य श्री रामकृष्ण परमहंस की मौलिक उपदेश-वाणी *'सभी धर्म सत्य हैं और वे ईश्वर की उपलब्धि के विभिन्न साधन-मात्र हैं'* का

प्रचार संकीर्णता, कट्टरपन व घृणा के विरुद्ध करते रहे। स्वामी जी ने यह सिद्ध कर दिया कि आज भी पाश्चात्य जगत् को भारत के चरणों में बैठकर शिक्षा लेने की आवश्यकता है।

चार वर्षों तक पाश्चात्य देशों का भ्रमण करने के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे। भारतीय समुद्र-तट पर उतरते ही भारतवर्ष की जनता ने उनकी सादर अभ्यर्थना की। उनकी गैरिक पगड़ी द्वारा मण्डित मस्तक को देखते ही समुद्र-तट पर एकत्रित विराट जन-समूह आनन्द से जय-ध्वनि कर उठा। स्थान-स्थान पर उनके सम्मानार्थ सभाएं करके उन्हें अभिनन्दन-पत्र भेंट किये गए। इसके पश्चात् उन्होंने भारत के गाँव-गाँव और नगर-नगर में भ्रमण करके जन-साधारण की सामाजिक व आर्थिक दुरवस्था का गम्भीर सहानुभूति के साथ निरीक्षण किया। उनकी ललकार समग्र देश में गूंज उठी—*भारत के दरिद्र, भारत के पतित, भारत के पापियों की सहायता करने वाला कोई मित्र नहीं है × × × × राक्षसों की तरह निर्दयी समाज उन पर जो आघात करता चला आ रहा है, उनकी वेदना का अनुभव वे भली-भाँति कर रहे हैं। परन्तु वे नहीं जानते कि कहाँ से वह आघात चला आ रहा है। वे यह भी भूल गए हैं कि वे मनुष्य हैं और इस परिणाम है—दासत्व व पशुत्व।*

× × × × नर-नारी पवित्रता के अग्निमंत्र में दीक्षित होकर, भगवान् में दृढ़ विश्वास रूपी कवच को धारण कर, दरिद्र, पतित व पद-दलितों के प्रति सहानुभूति से उत्पन्न सिंह विक्रम के साथ कमर कसकर समस्त भारत का भ्रमण करें। तथा युक्ति, सेवा और समाज की उन्नति व समता के मंगलमय संदेश का घर-घरप्रचार करें। इस प्रकार अपनी ओजस्वी ललकार के साथ उन्होंने भारत के सामाजिक एवं नैतिक जीवन में जो युग परिवर्तन किया, वह सर्वथा सराहनीय है।

स्वामी विवेकानन्द ने साहित्य की भी उल्लेखनीय सेवा की है। उनके द्वारा लिखित *वर्तमान भारत, परिव्राजक, भातवार कथा* (सोचने

योग्य बात) *प्राच्य और पाश्चात्य आदि* ग्रन्थों ने जहाँ देश के सामाजिक कथा नैतिक जीवन में नव-चेतना का मंत्र फूंका, वहां उन्होंने साहित्य के भण्डार की भी अभिवृद्धि की है।

१६०१ ई० में स्वामी जी को रोग ने आ घेरा। उनका स्वास्थ्य खराब रहने लगा। किंतु इस काल में भी वे अपना प्रचार-कार्य बराबर करते रहे। पर्याप्त चिकित्सा करने पर भी स्वास्थ्य में कोई सुधार न हुआ। अन्त में ५ जुलाई १६०२ को अमावस्या की रात्रि को बैलूर मठ में उनका शरीरान्त हो गया। देश-भर में शोक की लहर दौड़ गई। विशेषकर बंगभूमि तो चीत्कार कर उठी।

बंगाल के जीवन-स्रोत में राजा राममोहन राय से लेकर अनेक तरंगों का उत्थान व पतन हुआ। है। शताब्दि के अन्त तथा प्रथम भाग में फिर यह एक तरंग का अभिघात! दक्षिणेश्वर में गंगा के पूर्वी तट पर प्रकट होकर बैलूर मठ में पश्चिमी तट पर विलय हुआ। इसके अप्रतिहत वेग से ऐटलान्टिक के दुस्तर लवणाम्बुराशि की दोनों तटभूमि प्रकम्पित, प्रतिध्वनित हैं! समझा गया—गंगा में स्रोत है और बंगाली नहीं मरे। परंतु जो कुछ आँखों के सामने प्रकट हो उठता है और देखते-ही-देखते डूब जाता है, वह केवल वर्तमान में ही सीमित नहीं है, परन्तु इसका भूत व भविष्य हम सम्पूर्ण रूप से जान नहीं सकते। कौन कहेगा विवेकानन्द कहां से आये थे? उन्हें कौन लाया? और यह भी कौन कह सकता है, इस अभ्युदय की परिसमाप्ति कब—कितनी दूर—कहाँ होगी?

चार

योगिराज अरविन्द

योगिराज अरविन्द भारत की उन महान् विभूतियों में से हैं, जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से राष्ट्र की सांस्कृतिक उन्नति को विशेष बल दिया है। एक युग था, जब अरविन्द देश के राजनीतिक नेता थे और कालिज के प्रोफेसर। कौन जानता था कि विद्यार्थियों का यह शिक्षक एक दिन अखिल विश्व का शिक्षक बन जायगा। आज का व्यक्ति उसी अरविन्द घोष को जब योगिराज अरविन्द के रूप में सुनता है तो, उसकी समग्र चेतना सजग हो उठती है और वह उनके विषय में कुछ जानने का प्रयास करता है।

श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त सन् १८७२ ई० को हुआ था। इनके पिता डाक्टर कृष्णधन घोष आई० एस० एस० पाश्चात्य सभ्यता के पूर्ण पक्षपाती थे। ७ *वर्ष की अवस्था में* ही उनके पिता ने उन्हें *इंगलैंड* भेज दिया था। प्रारम्भ में यहाँ वे एक अंग्रेज परिवार के साथ रहे और बाद में *सेंटपाल* स्कूल के छात्रावास में रहने लगे। प्रारम्भिक शिक्षा आपने सेण्टपाल स्कूल में ही प्राप्त की। १२ वर्ष की अवस्था में वे स्कालरशिप प्राप्त करके वे *कैम्ब्रज* के *किंग्स कालिज* में प्रविष्ट हो गए। वहाँ से दो वर्ष में '*सर्दपोस*' नामक परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और यूनानी, लातीनी, जर्मन, इतालवी एवं फ्रेंच भाषा में विशेष योग्यता प्राप्त कर ली। आई० सी० एस० की परीक्षा भी आपने पास कर ली थी, किन्तु किसी व्यक्तिगत अज्ञात कारण वश उसके अन्तिम विषय में भाग नहीं लिया, इसलिए उन्हें आई० सी० एस० की उपाधि न मिली। वहाँ रहते हुए उनका

बड़ौदा नरेश से परिचय हो गया। वे उनकी योग्यता से बहुत प्रभावित हुए और उन्हें राज्य-सेवा के लिए अपने पास रख लिया।

सन् १८९३ ई० में अरविन्द विलायत से स्वदेश लौट आये। राज्य-सेवा के कार्य के पश्चात् वे बड़ौदा-कालिज में प्रोफेसर तथा वाइस प्रिंसिपल नियुक्त किये गए। वहाँ रहते हुए उन्होंने भारतीय साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। संस्कृत का भी पांडित्य प्राप्त कर लिया। वे मेधावी तो थे ही, अतः शीघ्र ही दर्शन तथा पुराणों के भाव को हृदयंगम कर लिया। उनकी आध्यात्मिक साधना व तपस्या प्रकट रूप से यहीं से प्रारम्भ होती है।

बड़ौदा में रहते समय ही इनका विवाह सुश्री मृणालिनी से हो गया था। इन्होंने अपनी पत्नी को जो पत्र लिखे हैं, उनसे अरविन्द के हृदय की वास्तविक झलक मिलती है और यह ज्ञात होता है कि वे आरम्भ से ही कितने अधिक निस्पृह थे। एक पत्र में इन्होंने अपनी पत्नी को लिखा था—*मुझमें तीन तरह के पागलपन हैं—प्रथम मैं मानता हूँ कि संसार की सारी सम्पत्ति प्रभु की है और उसे प्रभु के कार्य में लगाना चाहिए। दूसरा पागलपन यह है कि चाहे जैसा हो, मैं भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना चाहता हूँ। और तीसरा पागलपन यह है कि मैं अपने देश की नदियों, पहाड़ों, भूमि एवं जंगलों को एक भौगोलिक सत्ता-मात्र नहीं मानता। मैं इसे माता मानता हूँ और इसकी पूजा करता हूँ।*"

वंग-भंग के विप्लवकारी दिनों में श्री अरविन्द बड़ौदा की नौकरी छोड़कर नाम-मात्र के वेतन पर कलकत्ता के नेशनल कालिज में प्रिंसिपल होकर चले गए। *बन्दे मातरम्* में प्रकाशित एक लेख के सम्बन्ध में उन पर भारत-सरकार द्वारा अभियोग चलाया गया और वे एक वर्ष तक जेल में रहे। इस कारावास का परिणाम परम कल्याणकारी ही सिद्ध हुआ। उन्होंने स्वयं लिखा है—*ब्रिटिश सरकार के कोप ने मेरा भला ही किया। इसके फलस्वरूप मुझे ईश्वर मिला।* इस सम्बन्ध

में उनका उत्तरपाड़ा वाला भाषण एक ऐतिहासिक वस्तु है।

श्री अरविन्द ही वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने *सारी स्वाधीनता* भारत का राजनैतिक ध्येय घोषित किया। और सार्वजनिक रूप से निर्भीकता के साथ उसका प्रचार किया। उन दिनों आपके दो अंग्रेजी पत्र *वंदे मातरम्* और *कर्मयोगिनी* प्रकाशित होते थे। कर्म योगिनी की प्रसिद्ध लेखमाला *कर्मयोगी का आदर्श* में उन्होंने एक जगह लिखा था—

ये चीज़ें भी पर्याप्त हो सकती थीं यदि हमारी भवितव्यता अन्तिम तौर पर यही होती कि हमें ब्रिटिश साम्राज्य का एक दूरस्थ प्रान्त या यूरोपियन सभ्यता का पुछल्ला-मात्र बनकर ही रहना है...... भारत के भाग्य में तो लिखा है कि वह अपने स्वतंत्र जीवन और सभ्यता का निर्माण करे और संसार का अग्रणी बनकर खड़ा हो......। वास्तव में भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिए ही अरविन्द सतत प्रयत्नशील रहे हैं। बाह्य प्रयत्न ही तो सब-कुछ नहीं होते। इस विषय में उनकी एक विशाल दृष्टि रही है, एक बृहत्-अथक-अगोचर क्रिया है, जिसे उनके अधिक निकटवर्ती कुछ ही लोगों ने जान पाया है। यही कारण है कि देश को तैयार करने के लिए वे आन्तरिक जगत् की ओर बढ़े, वहाँ से देश में प्रेरणा एवं चेतना का विकास करने में लग गए, जिससे कि पूर्ण परिवर्तन या रूपान्तर हो सके। वे नेपथ्य में अपना कार्य करते रहे हैं।

४ मार्च १६१० ई० को श्री अरविन्द *पांडिचेरी* में आ गए। कांग्रेस ने उनको प्रधान पद के लिए आमंत्रित किया, परन्तु वे दिव्य ध्येय की प्राप्ति के लिए अखंड साधना में लीन हो गए। इनके अन्तर्मन ने इन्हें बताया कि भारत का उज्ज्वलतम भविष्य सत्य-सनातन आध्यात्मिकता में ही है और इसी बल पर वह सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है। बाद में सामाजिक तथा राजनीतिक आदि सब बातें उनकी बढ़ती हुई आध्यात्मिकता में मिलकर एक हो गईं।

श्री अरविन्द को पांडिचेरी में रहते हुए आज ३८ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। उनका चलाया हुआ आश्रम आज एक विशाल रूप धारण कर चुका है। इनके आश्रम में *श्री माँ* का विशेष स्थान है। वे एक *फ्रांसीसी महिला हैं।* जन्म से फ्रान्सीसी होते हुए भी उन्होंने भारत के लिए क्या कुछ नहीं किया। श्री अरविन्द के पांडिचेरी आने के कुछ ही वर्ष पश्चात् श्री माता जी वहाँ पधारीं और अब वे ही आश्रम की सूत्र-संचालिका अधिष्ठात्री माँ हैं। उनमें दिव्य शक्ति, प्रीति, ज्ञान और महिमा की अपूर्व परिणति है और वहाँ जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को माँ की प्रीति और वात्सल्य पूर्ण स्नेह का अलौकिक अनुभव प्राप्त होता है। *आश्रम के समस्त कार्य माँ की ही देख-रेख में सम्पन्न होते हैं और उन्हीं की आज्ञा को प्रसन्नता से स्वीकार करके साधक-गण विकास को प्राप्त हो रहे हैं।*

इनके आश्रम की उत्पत्ति के बारे में कहा जाता है कि प्रारम्भ वे *पांडिचेरी* में अपने गृह में कई सहवासी शिष्यों को साथ लेकर रहते थे। बाद में कुछ और सम्मिलित हुए। १६२० में जब श्री माता जी सम्मिलित हुईं तब शिष्यों की संख्या इतनी बढ़ गई कि उनके रहने के प्रबन्ध के लिए और कई मकान खरीदे गए। इस प्रकार उनके आश्रम की स्थापना हुई। यह आश्रम न तो साधारण गोष्ठी के समान है, और न यहाँ कोई समिति है। इसकी न कोई शासक-मंडली है न कमेटी, न ही यहाँ कोई राजनीतिक संस्था है। आश्रमवासियों को सब प्रकार के प्रचार-कार्य से, राजनीतिक अथवा सामाजिक जीवन से पृथक् रहना पड़ता है। आश्रम एक धर्म-संघ भी नहीं है, यहाँ के निवासी विभिन्न धर्म व समाज से आये हैं। यहाँ केवल अरविन्द की शिक्षाएं हैं और मनः संयम तथा ध्यान प्रभृति क्रम अन्तः करणिक क्रियाएं होती हैं। इन क्रियाओं का उद्देश्य है—चेतना का प्रसारण, सत्य का ग्रहण और साधारण वासनाओं पर जय और प्रत्येक मनुष्य की अन्तर्निहित भगवत् सत्ता और चेतना का आवि-

ष्कार तथा मानव-प्रकृति का एक उच्चतर विकास।

यदि श्री अरविन्द राजनीतिक क्षेत्र से विरक्त नहीं होते तो आज देश के उच्चकोटि के राजनीतिक नेता होते, राजनीति के सम्बन्ध में की गई उनकी वर्षों पूर्व की भविष्य वाणियाँ आज अक्षरशः सत्य हो रही हैं। किन्तु उन्हें तो अध्यात्मवाद की दिव्यशक्ति द्वारा राष्ट्र का विकास एवं सेवा करनी अभीष्ट थी। श्री अरविन्द ने अपने निरन्तर चिन्तन तथा सतत साधना से वह दिव्यशक्ति प्राप्त कर ली है, जिसके द्वारा वे आन्तरिक रूप से देश-सेवा का महान् कार्य कर रहे हैं। आज वे देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं सार्वजनिक जीवन से पृथक रहते हुए भी उसके साथ हैं। उनकी सम्पूर्ण साधना और तपस्या देश के लिए ही होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वे आज के भारत की एक महान् विभूति हैं।

पाँच

आचार्य विनोबा भावे

संसार में ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपनी ख्याति की परवाह न करके लोक-सेवा को अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बनाया है। गांधीजी के महान् व्यक्तित्व एवं अलौकिक प्रभाव ने भारत के जितने व्यक्तियों को महानता प्रदान की है, उनमें *श्री विनोबा भावे* का सर्वोच्च स्थान है। वे *गांधी-युग की अनुपम देन हैं*। गांधीजी के रचनात्मक कार्यों के पीछे उनकी शक्ति प्रकट रूप से लगी रहती है। उनके जीवन को देखकर हमें अनायास ही भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों का स्मरण हो आता है। वे सरलता की प्रतिमूर्ति, गम्भीरता के सागर, दया के भण्डार तथा सत्य और अहिंसा के सच्चे पुजारी हैं। ऊपर से देखने से आपको उनका स्वभाव रूखा एवं शुष्क जान पड़ता है, किन्तु उनकी जीवन-कहानी को जानने से ज्ञात होगा कि उनकी बाह्य शुष्कता के पीछे कितनी भावना और तपस्या निहित है।

विनोबा जी का जन्म बम्बई के कोलाबा जिले के अंतर्गत *गगोदे* नामक ग्राम में हुआ। किन्तु उनके पिता प्रोफेसर गजर द्वारा संचालित *कला-भवन* में उद्योग सीखने के लिए बड़ौदा चले गए। विनोबा की प्रारम्भिक शिक्षा पिता के पास बड़ौदा में ही हुई। कई वर्ष तक तो वे घर पर ही पिता से शिक्षा ग्रहण करते रहे। बाद में एक विद्यालय में प्रविष्ट हुए। उनके पिताजी की इच्छा थी कि वह किसी उद्योग में प्रवीण बन जायं। इसलिए विनोबा जी को चित्र-कला का विशेष अभ्यास कराया गया।

उन दिनों भारत में राष्ट्रीय चेतना की एक नवीन लहर दौड़ रही थी। बंग-भंग आन्दोलन के पश्चात् महाराष्ट्र के युवकों में भी विशेष

उत्तेजना और हलचल उत्पन्न हो रही थी। सब युवक सोचते थे कि जिस प्रकार समर्थ गुरू रामदासजी ने ब्रह्मचारी रहकर शिवाजी के द्वारा देश-सेवा की थी, उसी प्रकार वे भी अपना जीवन देश-उन्नति के लिए क्यों न समर्पित कर दें। बंग-भंग आन्दोलन का विनोबा जी पर भी विशेष प्रभाव पड़ा और उन्होंने बाल-ब्रह्मचारी रहने का व्रत धारण कर लिया। आज तक उन्होंने इस व्रत को पूर्ण रूप से निभाया है।

हम पहले बता चुके हैं कि वह राजनीतिक-चेतना का उषाकाल था और देश में एक नवीन जागृति अंगड़ाई ले रही थी, अतः विनोबाजी का राजनीति की ओर प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ में विनोबाजी उग्र विचारों के थे, उनके मन में प्रायः क्रान्तिकारी भावनाएं उठा करती थीं। फलस्वरूप लोकमान्य तिलक की विचार-धारा से वे विशेषकर प्रभावित हुए। उधर पिताजी उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त कराकर किसी कला में पारंगत कराने की चेष्टा कर रहे थे। किन्तु विनोबाजी में दिन-दिन धार्मिक एवं आध्यात्मिक भावनाएं जोर पकड़ती जा रही थीं और उनके मन में साधारण शिक्षा और सांसारिक बातों के प्रति अरुचि उत्पन्न होती जा रही थी। मराठी-साहित्य और धार्मिक अध्ययन की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन नहीं किया था; उसके स्थान में फ्रेंच भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। किन्तु बाद में मराठी-साहित्य से अच्छा परिचय होने के कारण संस्कृत के अध्ययन में कोई कठिनाई नहीं हुई। जब आपको लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य के प्रकाशन की सूचना मिली, तो उसका स्वागत करने के लिए आप गीता के अध्ययन में लग गए और उसके द्वारा संस्कृत के भी पंडित बन गए।

गीता-अध्ययन के पश्चात् विनोबाजी की आध्यात्मिक प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई, किन्तु आपके मन में शांति न थी, आपका विचार था कि घर पर रहकर पर्य्याप्त अध्ययन एवं मनन असम्भव है।

अतः आपने घर छोड़ने का निश्चय कर लिया। जब विनोबाजी इन्टरमीटिएट की परीक्षा के लिए बड़ौदा से बम्बई आये, तब परीक्षा में न बैठकर चुपचाप काशी भाग गए। काशी में उन्होंने कुछ दिनों तक संस्कृत के ग्रन्थों का अध्ययन किया। यहाँ उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़े। किन्तु तब भी उन्हें आन्तरिक शांति प्राप्त नहीं हुई। विनोबाजी संन्यासी बनकर हिमालय जाना नहीं चाहते थे, वरन् उनके मन में देश-सेवा के लिए कोई ठोस और रचनात्मक कार्य करने की प्रबल इच्छा थी।

उन्हीं दिनों गांधी जी दक्षिण-अफ्रीका से भारत लौटे और उन्होंने साबरमती आश्रम की स्थापना की। विनोबाजी तथा गांधीजी के विचारों में बहुत-कुछ साम्य था। उन्होंने गांधीजी के आश्रम में प्रवेश करने का निश्चय किया और इसके लिए गांधीजी से पत्र-व्यवहार किया। गांधीजी का उत्तर आने के पूर्व ही वे साबरमती जा पहुँचे और उन्हें आश्रम में आश्रय मिल गया। प्रारम्भ में उनकी ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया। उनका स्वास्थ्य भी यहाँ आकर गिरने लगा। आश्रम के नियम बड़े कठोर थे, उनके लिए शारीरिक श्रम भी आवश्यक था। विनोबा जी को पानी खींचने का कार्य मिला, जिसे उन्होंने बड़ी तत्परता और संलग्नता से किया। उनका परिश्रम देखकर गांधीजी भी आश्चर्यान्वित हुए। उन्होंने एक दिन विनोबाजी से पूछा—*तुम्हारा शरीर तो बहुत अस्वस्थ है, फिर भी तुम इतना श्रम किस प्रकार कर लेते हो?* उत्तर मिला—*आत्मा तो बलवान हो सकती है।* इस उत्तर से गांधीजी ने समझ लिया कि विनोबा एक असाधारण व्यक्ति हैं। फिर तो गांधीजी से उनका सम्पर्क बढ़ता ही गया। कुछ ही दिनों में विनोबा जी की गणना साबरमती-आश्रम के प्रमुख व्यक्तियों में होने लगी।

नागपुर-कांग्रेस के पश्चात् वर्ष में एक सत्याग्रह आश्रम खोला गया। गांधीजी ने उसका संचालन करने के लिए विनोबाजी को नियुक्त

किया। विनोबाजी ने बड़ी योग्यता पूर्वक वहाँ अपने कर्त्तव्य-पालन का परिचय दिया। १९२१ से विनोबा जी वर्धा-आश्रम में रहने लगे और १९२२ में जब यह आश्रम बंद हो गया, तो उन्होंने वर्धा शहर से डेढ़ मील की दूरी पर, नालबाड़ी नामक ग्राम में अपनी झोंपड़ी बनाकर रहना प्रारम्भ कर दिया। विनोबाजी देश की उन्नति के लिए *राजनीतिक स्वतंत्रता* को बहुत आवश्यक समझते थे। उनका विश्वास था कि ग्रामीण जनता को रचनात्मक कार्यक्रम के बिना आज़ादी नहीं मिल सकती। और रचनात्मक कार्यक्रम का केंद्र-बिंदु है खादी। विनोबा जी ने वहाँ खादी का एक केन्द्र खोला और आस-पास गाँवों में जाकर खादी तथा चर्खे का प्रचार किया। उन्होंने चर्खे और तकली को अधिक उपयोगी बनाने के वहाँ बहुत-से प्रयोग किये। फलतः खादी-शास्त्र के विकास का श्रेय उन्हीं को है।

विनोबाजी का जीवन आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। गीता के तत्त्वों को न केवल उन्होंने स्वयं समझकर दूसरों को समझाया है, प्रत्युत उन तत्त्वों को सफलता पूर्वक व्यवहार में लाकर दिखा दिया है। गांधीजी के सिद्धांतों जितना को उन्होंने समझा है, शायद ही किसी अन्य ने समझा हो। उनके विचार मौलिक और मार्मिक हैं। वे प्रत्येक स्पष्ट और सुव्यवस्थित विचार को ही जनता के सामने रखते हैं। उनके मस्तिष्क में व्यावहारिकता भी कूट-कूट कर भरी है, इसीलिए उन्होंने खादी में ठोस कार्य में सफलता प्राप्त की है। वर्धा-शिक्षण-योजना के पीछे विनोबाजी का व्यावहारिक और सक्रिय ज्ञान दिया हुआ है। उद्योग द्वारा शिक्षा देने का कार्य विनोबाजी के लिए कोई नवीन नहीं था, वे तो इस पद्धित को स्वाभाविक रूप से व्यवहार में ला रहे थे। खादी शास्त्र में वे इतने लीन हो गए हैं कि उसी के द्वारा प्रत्येक विद्या का स्रोत निकाल सकते हैं। उनकी प्रखर बुद्धि ही के कारण वर्धा-शिक्षण-योजना आज इतने विस्तृत रूप से देश के सम्मुख रखी जा सकी है।

विनोबाजी एक आदर्श शिक्षक और लेखक भी हैं। उनके मराठी लेखों का संग्रह 'मधुकर' नाम से प्रकाशित हुआ था। उनके लेख प्रत्येक भाषा के साहित्य का गौरव सकते हैं। विनोबा जी ने एक सूत्र बनाया है—*सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की।* उनका कथन है कि *व्यक्ति की भक्ति से आसक्ति बढ़ती है,* इसीलिए *भक्ति समाज की करनी चाहिए। यदि कोई समाज की सेवा करना चाहे, तो कुछ भी नहीं हो सकता। समाज तो एक कल्पना-मात्र है। कल्पना की हम सेवा नहीं कर सकते। माता की सेवा करने वाला पुत्र दुनिया की सेवा कर सकता है, यही मेरी धारणा है।*

ग्रामीण जनता के सम्बन्ध में विनोबाजी का कहना है—*हमें ग्रामीणों के सामने ग्राम-सेवा की कल्पना को रखना चाहिए न कि राष्ट्र-धर्म की। उनके आगे राष्ट्र-धर्म की बातें करने से काम न होगा। ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सरल है, उतना राष्ट्र-धर्म नहीं; इसमें भी यही बात है, जो व्यक्ति-सेवा के सम्बन्ध में है। ग्राम धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है। राष्ट्र-धर्म निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है। बच्चे के लिए त्याग करना माँ को सिखाना नहीं पड़ता।*

आचार्य विनोबा निष्ठापूर्ण ब्रह्मचारी तथा प्रखर विद्वान् हैं। उन्होंने सादगी को वरण किया है। एक निश्चय करके एक तत्त्व ग्रहण करना, और उसका उसी क्षण अनुसरण करना उनका प्रधान गुण है। उनका दूसरा प्रधान गुण निरन्तर विकासशीलता है। शायद ही हम में से ऐसा कोई हो, जो कह सके कि मैं प्रतिक्षण विकास कर रहा हूँ। गान्धीजी के अतिरिक्त अभी तक इन गुणों का विकास बहुत कम व्यक्तियों में हुआ है।

गांधीजी की मृत्यु के पश्चात् उनके अधूरे कार्यों को पूरा करने का आपने व्रत ले लिया है। गान्धीजी के रचानात्मक कार्यों की पूर्ति उनके सिद्धान्तों का प्रचार करना ही अब उनके जीवन का ध्येय बन गया है। गान्धीजी की सामूहिक प्रार्थना का क्रम अब विनोबा जी ही चला

रहे हैं। गान्धीजी की मृत्यु के पश्चात् आज देश को विनोबाजी से बड़ी-बड़ी आशाएं हैं। आज वे ही एक-मात्र बापू के सच्चे अनुयायी हैं। आश्चर्य नहीं कि कुछ समय पश्चात् जनता गान्धीजी का प्रतिरूप विनोबाजी में निहारने लगे।

छः

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

विज्ञानवाद के इस युग में जब कि जीवन के भौतिक उपकरणों ने मानव-आत्मा को बुरी तरह जकड़ रखा है, तथा जब विश्व चिरंतन सत्य की खोज में भारत की ओर निहार रहा है, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने भारत की आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचार पद्धति को अक्षुण्ण बनाये रखने का महान् कार्य किया है। *प्रोफेसर राधाकृष्णन्* उन इने-गिने व्यक्तियों में से हैं, जिनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता ने उनकी मौलिकता को घटाने के बजाय सोने में सुहागे की भाँति और उज्ज्वल बनाया है। भारतीय संस्कृति और दर्शन के वह सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। अपनी विद्वत्ता तथा प्रतिभा से उन्होंने कई बार पाश्चात्य विद्वानों को प्रभावित किया है और साथ ही स्वामी विवेकानन्द तथा रामकृष्ण परमहंस की उस पम्परा को भी प्रचलित रखा है, जिसने पहले भी एक बार पश्चिम को पूर्व की ओर निहारने के लिए बाध्य किया था। अपने ग्रंथों एवं असंख्य भाषणों द्वारा उन्होंने भारतीय दर्शन एवं संस्कृति का डंका संसार में बना दिया है। विवेकानंद और रवीन्द्रनाथ के पश्चात् भारत के सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक यश को बढ़ाने में आपका ही प्रमुख स्थान है।

प्रो० राधाकृष्णन् का जन्म मद्रास के *चित्तूर* जिले के अन्तर्गत निरुतनी नामक ग्राम में ५ सितम्बर १८८८ ई० को एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ। निरुतनी ग्राम प्रारम्भ से ही हिंदुओं का तीर्थ-स्थान तथा शैव भक्तों का उपासना-केन्द्र रहा है। इसी कारण उनकी विचार-धारा शैव तत्त्वों की ओर किंचित् प्रभावित हुई तथा धर्म के बाह्य रूप के

अतिरिक्त धर्म के वास्तविक अर्थ *चिरन्तन सत्य* की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील रहने लगे।

जिस समय श्री राधाकृष्णन् का जन्म हुआ, उस समय देश में, १८५७ के स्वातंत्र्य-संग्राम की असफलता के कारण खीझ, निराशा तथा अकर्मण्यता का वातावरण व्याप्त था और साथ ही मैकाले की कूटनीतिपूर्ण योजना के अंतर्गत देश का नवशिक्षित समुदाय पश्चिमी विचार-धारा की ओर प्रभावित हो रहा था। लोग भारतीय सभ्यता को हेय समझने लगे थे। इधर ईसाई धर्म के प्रचारक अशिक्षित जनता को पथ-भ्रष्ट कर रहे थे। उसी समय स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानंद-शिक्षित जन-समुदाय को भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की ओर मोड़ रहे थे। १० वर्ष की अवस्था में ही श्री राधाकृष्णन् ने स्वामी विवेकानंद के विचारों को समझने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया था। यहीं से उनकी वास्तविक शिक्षा का श्री गणेश हुआ।

श्री राधाकृष्णन् ने प्रारम्भिक शिक्षा ईसाई मिशनरी स्कूल में प्राप्त की। वहाँ जब ईसाई प्रचारक भारतीय सभ्यता पर आक्षेप करते थे, तो उनके मस्तिष्क में तीव्र प्रतिक्रिया होती थी। परिणामस्वरूप उनके विचारों में दृढ़ता एवं स्थिरता आती गई तथा उनकी रुचि भारतीय संस्कृति के गम्भीर अध्ययन की ओर बढ़ती गई। १६०३ ई० में उन्होंने *मैट्रिक* की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् १६०५ में *इंटर-मीजिएट* परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इस प्रकार शिक्षा-पथ पर अग्रसर होते हुए उन्होंने *मद्रास-क्रिश्चियन कालिज* से एम० ए० की डिग्री प्राप्त की। प्रारम्भ से ही आपकी रुचि संस्कृत भाषा तथा भारतीय दर्शन-शास्त्र के प्रति थी। आपका पुस्तकीय ज्ञान इतना अपार था कि आपके मित्र आपको *वाकिंग एनसाइक्लोपीडिया* अर्थात् चलता-फिरता विश्व-कोष कहा करते थे। उन दिनों आपने *वेदान्त में आचार-नीति* शीर्षक से एक खोजपूर्ण निबन्ध लिखा था, जिसकी

देश-विदेशों के सब क्षेत्रों में भूरि-भूरि प्रशंसा की गई थी।

स्वामी रामतीर्थ की भाँति श्री राधाकृष्णन् का प्रारम्भ से यही विश्वास रहा है कि दर्शन कोई सूक्ष्म अव्यावहारिक वस्तु नहीं है, अपितु यह सार्वजनिक जीवन का ही एक अंग है। इस सत्य को उन्होंने सार्वजनिक जीवन में अपने व्यवहार से पूर्ण चरितार्थ कर दिखाया। एम० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् आप *मद्रास प्रेसिडेन्सी कालिज* में दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त किये गए। आपने अपनी विलक्षण प्रतिभा तथा शिक्षा-पद्धति से दर्शन-जैसे नीरस और क्लिष्ट विषय को भी सरस तथा सरल कर दिखाया। जून १९२६ में इंग्लैंड के *कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय* में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों का एक सम्मेलन हुआ। श्री राधाकृष्णन् उसमें भारतीय प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। इंगलैंड में आपने अनेक स्थानों पर आध्यात्मिक विषयों पर भाषण दिये, इससे आपकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति और भी बढ़ गई। तत्पश्चात् आप अमरीका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने गये। वहाँ आपने जो भाषण दिये उनका संग्रह *फ्यूचर आफ-सिविलाइज़ेशन* (सभ्यता का भविष्य) के नाम से प्रकाशित हुआ।

अब समस्त यूरोप में राधाकृष्णन् की ख्याति फैल चुकी थी। अमरीका से लौटने के पश्चात आप इंगलैंड के *आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय* में दर्शन के शिक्षक नियुक्त किये गए। यह पहला अवसर था, जब एशिया, विशेषतया भारत के विद्वान् को इंगलैंड में इतना सम्मान प्राप्त हुआ। कुछ समय इंगलैंड में रहने के पश्चात् आप भारत लौट आये। १९११ में उन्हें *काशी विश्वविद्यालय में उप कुलपति* का सम्मान-पूर्ण पद प्रदान किया गया, किन्तु महामना मालवीयजी की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने उक्त पद से त्याग-पत्र दे दिया।

श्री राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन तथा अन्य विषयों पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं। आपके ग्रन्थों का पाश्चात्य देशों में विशेष प्रचार

है। *रवि ठाकुर का दर्शन*, *आज के दर्शन पर धर्मों का प्रभाव*, *वेदान्त का इतिहास*, *हिन्दुओं का जीवन-दर्शन* तथा *कल्कि या संस्कृति का भविष्य* आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अपनी पुस्तकों में विशेषतः 'वेदान्त का इतिहास' में आपने प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध किया है कि यूनान के दर्शन पर प्राचीन भारतीय दर्शन का गहरा प्रभाव है। अरस्तू, अफलातून-जैसे तत्त्ववेत्ताओं को भारतीय दर्शन शास्त्र से प्रचुर प्रेरणा प्राप्त हुई।

यद्यपि श्री राधाकृष्णन् ने विभिन्न दर्शनों की सुन्दर विवेचना की है, तथापि आपके ग्रन्थों में इन बात की स्पष्ट झलक दिखाई देती है कि श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद पर आप पर्याप्त आस्था थाते हैं। साथ ही आपने यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है कि शंकर के अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्ट द्वैतवाद, निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद, भास्कराचार्य के शुद्धाद्वैतवाद अथवा पुष्टिवाद में बाहरी भिन्नता होने पर भी मूलतः ये सभी सिद्धान्त एक ही हैं।

श्री राधाकृष्णन् अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति स्वाभिमानी होते हुए भी इस तथ्य में विश्वास नहीं करते कि पाश्चात्य सभ्यता सर्वथा हेय तथा उपेक्षणीय है। अपनी सभ्यता के सभ्य में आकर, दूसरी संस्कृतियों के प्रति द्वेष की भावना न रखकर सांस्कृतिक समन्वय से विश्वशान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है तथा यही *वसुधैव कुटुम्बकम्* के सच्चे सिद्धान्तों के अनुरूप हैं। आपका विश्वास है कि वैज्ञानिक अनुसन्धानों से प्रत्येक राष्ट्र अन्योन्याश्रित हो गया है। अतः संसार को परिवार के रूप में देखने में ही कल्याण है। इसी मार्ग से धर्म, समाज तथा परिवार की उन्नति सम्भव है। इसीलिए हम कह सकते हैं कि श्री राधाकृष्णन् एक-देशीय नहीं, प्रत्युत विश्व-नागरिक हैं।

समाज की उन्नति तथा उसके नव-निर्माण के सम्बन्ध में श्री राधाकृष्णन् की विचार-धारा अत्यन्त सूक्ष्म तथा मौलिक है। उनका कहना है कि *समाज का उत्थान उन व्यक्तियों द्वारा होगा जिनका व्यक्तित्व*

गहन है तथा जिनके जीवन में सत्यता है। सुखमय पारिवारिक जीवन से ही उन्नति शील समाज का जन्म होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन के प्रत्येक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में श्री राधाकृष्णन् की विचार-धारा दार्शनिक होने के साथ-साथ नवीन एवं मौलिक है।

मार्च १९४७ में जब दिल्ली में एशियाई देशों का सम्मेलन हुआ, उसमें आपने एशिया के विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों से विचार-विनिमय करके उन्हें बताया था कि भौतिकवाद में विश्वास रखने से विश्व-शान्ति नहीं हो सकती। विश्व-शान्ति का एक-मात्र मार्ग अध्यात्मवाद ही है।

अध्ययन तथा मनन की ओर प्रवृत्ति होने के कारण स्वभावतः आपको एकाकी जीवन ही पसन्द है। किन्तु साथ ही आपका व्यक्तित्व इतना आकर्षक है कि जो एक बार आपके सम्पर्क में आ गया, वह आपको भुला नहीं सकता। अपने स्वभाव के विषय में आपने स्वयं लिखा है—*मुझे लोग शान्त तथा तीव्र इच्छा-शक्ति वाला समझते हैं, जबकि मैं ऐसा हूँ नहीं। भावुकता मुझमें तीव्र रूप से अधिक मात्रा में आ जाती है, जिसे मैं छिपा जाता हूँ।* आप सादगी एवं विनम्रता की प्रतिमूर्ति हैं। बनावट तथा मिथ्याडम्बर तो आपको छू तक नहीं गया।

श्री राधाकृष्णन् विवेकानन्द अथवा रवीन्द्रनाथ की भाँति स्वयं साधक नहीं हैं। आप केवल व्याख्याता हैं, भाष्यकार हैं, परन्तु स्वयं उपासक अथवा साधक नहीं बने। आपकी एक बड़ी विशेषता यह है कि राष्ट्रीय-आन्दोलन में प्रत्यक्ष भाग न लेने पर भी आप राष्ट्रीय नेताओं के घनिष्ठ मित्र रहे हैं। गान्धी जी पर तो आपकी परम श्रद्धा है। गान्धी जी का किंचित् भी अपमान आप सहन नहीं कर सकते। पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में जो कांग्रेस-संयोजक-समिति बनी थी, उसके आप शिक्षा व संस्कृति विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं।

१६४७ में भारत के स्वतंत्र होने पर आपको विधान परिषद् का सदस्य बनाया गया। राजनीतिक कार्यों में रुचि न रखते हुए भी आपने देश-सेवा के लिए आपने विधान-परिषद् की सदस्यता स्वीकार करके एक सच्चे देश भक्त के कर्त्तव्य का पालन किया। इसके पश्चात् आपको इंगलैंण्ड में भारत का राजदूत नियुक्त किया गया। तत्पश्चात् जब श्री० विजयलक्ष्मी पंडित को अमरीका में राजदूत नियुक्त किया गया तो आपको उनके स्थान पर रूस में भारत का राजदूत बना कर भेजा गया है।

श्री राधाकृष्णन् एक कुशल वक्ता तथा स्वतंत्र विचारक हैं। आप अपने धारावाहिक भाषणों की सरसता से मनुष्य-मात्र को मोहित करने में नहीं चूकते। कानून की उच्च परीक्षा पास करने के कारण वाक्-शक्ति के साथ-साथ आपकी तार्किक खंडन-मंडन की प्रतिभा भी पर्याप्त विकास पा गई है। आप एक कुशल प्रबन्धक और प्रत्येक कार्य को नियमित ढंग से करने के लिए प्रसिद्ध हैं। आप-जैसे नर-रत्नों के सद् प्रयत्नों से ही राष्ट्र के कल्याण की आशा है।

डाक्टर भगवानदास

जिस मनीषी-प्रवर महापुरुष ने अपने जीवन के ५० वर्ष, स्थानीय, देशीय तथा सर्वमानवीय लोक-सेवा के उन कार्यों से व्यतीत कर दिये, जिनसे देशी-विदेशी—विशेषत: विद्वज्जन सभी परिचित हैं—उसकी प्रशंसा शब्दों द्वारा नहीं की जा सकती। डा० भगवानदास ने अपने जीवन में अनेक लोकोपयोगी कार्य किये हैं; परन्तु उन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और परार्थ-परमार्थ-पथ-प्रदर्शक उनका बौद्धिक कार्य है। उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत में लोक-कल्याण-प्रवर्तक अनेक ग्रन्थ लिखकर भारतीय दार्शनिक परम्परा को एक नवीन रूप से अक्षुण्ण रखा है। यहाँ हम उनके जीवन पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

डा० भगवानदास का *जन्म* १२ जनवरी १८६९ को *बनारस* के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। आपने प्रारम्भिक शिक्षा बनारस में ही पाई। आपकी माताजी शिक्षा के पवित्र वातावरण में रह चुकी थीं, अत: बाल्यकाल ही में आप पर मातृ-संस्कार का प्रभाव पड़ चुका था। बनारस में शिक्षा प्राप्त करके आप *कलकत्ता* चले गए और वहां *अंग्रेजी* तथा *दर्शन-शास्त्र* का अपूर्व ज्ञान प्राप्त करके प्रतिभाशाली जीवन में प्रवृत्त हुए। कुछ ही दिनों में आपने दर्शन एवं साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखकर अपनी अपूर्व प्रतिभा और विद्वत्ता का परिचय जनता को दे दिया। साहित्य में आपने *रस-मीमांसा* लिखकर साहित्यिक वाङ्मय में एक क्रांति उत्पन्न कर दी। आपकी साहित्य-सेवाओं के उपलक्ष्य में *काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय* ने सन् १९२९ में और *प्रयाग विश्वविद्यालय* ने १९३७ में आपको *डाक्टर आफ लिटरेचर* की उपाधि से सम्मानित किया।

आपने अपने कालिज-जीवन से ही सरकारी पदों पर कार्य करना आरम्भ कर दिया था। प्रारम्भ में तहसीलदारी तथा डिप्टी कलक्टर आदि पदों पर आपने कार्य किया। *काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय* के निमाण में आपने मदनमोहन मालवीयजी का दाहिना हाथ बनकर काय किया। *काशी विद्यापीठ* के आप कुलपति थे। अब भी काशी विद्यापीठ को आपका सहयोग प्राप्त है। *सैन्ट्रल हिन्दू-कालिज* के अवैतनिक मंत्री पद पर आप बड़ी तत्परता से १६०६ से १६१४ तक कार्य करते रहे।

दशन-शास्त्र मोक्ष-मार्ग का उद्घाटक है। इससे चित्त को शांति मिलती है और सत्य का साक्षात्कार होता है। कुछ लोगों के लिए वह केवल बुद्धि-विलास का ही एक रोचक साधन है। पर वस्तुतः यह दोनों ही धारणाएं अपूर्ण हैं। दर्शन जीवन की सारी समस्याओं को सुलझाने की कुञ्जी है। जिस समाज के जैसे दार्शनिक विचार होंगे, वैसे ही उसके सामाजिक नियम, संस्कार, विधान तथा शासन-योजना, आदि होंगे। आज यूरोप की अनियंत्रित *विकासवाद* और *व्यक्तिवाद* ने जो दशा की है, इनके द्वारा सारी पृथ्वी को जो हानि पहुंच रही है, वह सभी जानते हैं। इस समय प्रतिद्वन्द्विता और स्वार्थ का साम्राज्य है। सभी अपने-अपने अधिकारों की चिन्ता में हैं। *साम्राज्यवाद, पूँजी-वाद, साम्यवाद,* ये सब इस दूषित वातावरण के फल हैं। किन्तु श्री भगवानदासजी का मत है कि *दर्शन से जीवन की समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है, उससे यह संघर्ष टल सकता है।* उनका कहना है कि *मनु ने समाज की जो व्यवस्था की है, वह लोकोपयोगी। स्थान-भेद से उसमें कहीं-कहीं आवश्यकता पड़ सकती है, समयानुकूल परिवर्तन की नवीन व्यवस्था की जाती है, किन्तु मूल सिद्धान्त वही है। उन्होंने मनुष्यकी विशद व्याख्या भी की है। सम्भव है उनकी व्याख्या से लोगों का मतभेद हो, किन्तु उनका प्रयत्न स्तुत्य है।*

डा० भगवानदास जी की प्रतिभा ने शास्त्रार्थ का कलेवर बदल

दिया है। आप प्राचीनतम आर्ष वचनों का ही ऐसा अर्थ लगाते हैं, जो नये देश, काल, पात्र, निमित्त आदि के लिए उपयुक्त भी, और प्राचीन भाव के अविरुद्ध भी, सिद्ध होता है। यही कारण है कि आपके ग्रन्थ, नवीन के प्रतिपादन होने पर भी प्राचीन, तथा प्राचीन के अनुशासन होने पर भी नवीन, मौलिक तथा अपूर्व जान पड़ते हैं। इनके द्वारा, वृद्ध जरा-ग्रस्त शास्त्र-शरीर का काया-कल्प भी हो जाता है, और उसकी सनातन वेदार्थात्मा इनसे अक्षत और अनुस्यूत भी बनी रहती है। वस्तुतः प्राचीनतम ऋषि-दृष्टि वेद-शास्त्र के *प्रणवीकरण* के उद्देश्य से ही आपका ज्ञान कर्म-प्रवृत्त है; किसी नये शास्त्र के आविष्कार के लिए नहीं।

वास्तव में आपका समस्त जीवन एक गम्भीर चिन्तन में आबद्ध है। भारतीय संस्कृति के सजीव वरदाता के रूप में आपमें आधुनिक ऋषित्व-भाव की छाप आपके जीवन के कार्यों से प्रकट होती है। साधना और अध्ययन के समय में भी देश-सेवा में प्रवृत्त रहना आप जैसे ही कर्मठ पुरुषों का काम है। राजनीति में आपने आदर्श परम्परा का विचार सदैव किया है। पहले जब 'स्वराज्य-व्यवस्थापिका-संघ' की स्थापना हुई और 'स्वराज्य' की व्याख्या की गई, उससे आप सहमत नहीं थे। आपने कांग्रेस के नेताओं के सामने अपने विचार रखे थे, स्वयं गांधी जी से काफी विचार-विमर्श किया किन्तु, उस समय कांग्रेस ने आपके विचारों की खिल्ली उड़ाई थी। किन्तु अन्त में जब कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया, तब आपके विचारों की सत्यता प्रगट हुई।

आपने अंग्रेजी साहित्य और दर्शन पर लगभग दो दर्जन पुस्तकें लिखी हैं, जो देश-विदेश में आपके यश का विस्तार कर रही हैं। हिन्दी में दर्शन-सम्बन्धी आपके दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ *समन्वय* और *पुरुषार्थ* हैं। साहित्य में भी आपके मौलिक विचारों की कई महत्त्वपूर्ण

कृतियां हैं। थियासोफिकल सोसायटी ने भी आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

अब वृद्धावस्था में संन्यास लेने पर भी आप उचित अवसरों पर देश-सेवा से पीछे नहीं हटते। समय-समय पर आप देश-सेवा की अन्य प्रवृत्तियों में योग दान देते रहते हैं। आपके इस आदर्श जीवन की छाप आपके पुत्र श्रीप्रकाश पर भी पूर्ण रूप से पड़ी है। उन्होंने भी अपनी अधिकतर आयु राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने में ही बिताई है। वास्तव में भगवानदास जी की देश-सेवा और देश को दर्शन-सम्बन्धी उनकी देन भारतीय-इतिहास में सदा अमर रहेगी।

शिक्षा, दर्शन, राजनीति, साहित्य और राष्ट्र भाषा हिन्दी की सेवा में कार्य करने के उपहारस्वरूप आप १६१६ में संयुक्त प्रान्तीय-राजनैतिक-सामाजिक सम्मेलन के सभापति बनाये गए। १६२१ में *हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन* के कलकत्ता-अधिवेशन के भी आप *सभापति* मनोनीत हुए। देश-सेवा की प्रवृत्ति में योगदान देने के कारण आप १ वर्ष तक जेल में भी रहे। १६३५ से १६३८ तक आप *केन्द्रीय धारा-सभा* के सदस्य भी रहे।

डा० भगवानदास जी की स्मृति-शक्ति अद्भुत है। संस्कृति के अनेक श्लोक आपके कंठस्थ हैं और आपको सभी का पता-ठिकाना याद है। अवसर पड़ने पर वे श्रुति-स्मृति और पुराणों आदि से तुरन्त अवतरण पेश कर देते हैं। बीच-बीच में उर्दू, फारसी के वाक्यों की भी पुट रहती है।

विद्वान् होते हुए भी आप सांसारिक व्यवहार में कुशल हैं। बात यह है कि प्रत्येक प्रसिद्ध व्यक्ति के सम्बन्ध में उनके जीवन-काल में ही कुछ कथाएं प्रचलित हो जाती हैं। भारत में तो प्रत्येक बड़ा आदमी सर्वशक्तिमान मान लिया जाता है और प्रत्येक संस्था की यह इच्छा होती है कि उसे अपने कार्य में खींच लिया जाय। कुछ लोगों की धारणा है कि श्री भगवानदासजी *योगी* हैं। लोगों की यह धारणा

सम्भवतः उनके *दार्शनिक होने* तथा *थियोसोफिकल सोसाइटी* के सदस्य होने के कारण ही हुई है। भारत में दार्शनिकों के बहुधा योगी होने की बात भी सुनी जाती है; किन्तु डा० भगवानदास जी योगी नहीं हैं। दार्शनिक होते हुए भी आप में तपश्चर्या की कमी है। आप स्वयं कहते हैं—*मेरा शरीर तपश्चर्या के योग्य नहीं है।* आप मितभाषी, मितभोजी, सच्चरित्र और सद्गृहस्थ अवश्य हैं, पर तपस्वी नहीं हैं। यही कारण है कि आपका समादर करने वाले बहुत हैं, किन्तु आपके अनुयायी—शिष्य—कोई नहीं हैं।

दर्शन बड़ा नीरस विषय समझा जाता है और प्रायः लोग दार्शनिकों को बड़ा ही नीरस समझते हैं। किन्तु भगवानदास जी में यह बात नहीं है। वे समय पर हँसमुख भी बन जाते हैं। उनमें वह वाक-पुटता नहीं है, जिसकी आवश्यकता तर्क-वितर्क अथवा शास्त्रार्थ में पड़ती है। उनके भाषणों में शान्त, वीर और हास्य रसों का बहुत अच्छा समावेश रहता है। हिन्दी में उनकी लेखन-शैली अपनी पृथक् ही विशेषता रखती है। जिसमें हिन्दी के साथ संस्कृत के तत्सम शब्दों और अरबी-फारसी के समानार्थक शब्दों का भी प्रयोग कर जाते हैं।

डा० भगवानदास अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहने वाले व्यक्ति हैं। जो विचार उनकी बुद्धि और विवेक की कसौटी पर पूर्ण नहीं उतरते, उनका वे निर्भीकता से विरोध करते हैं। युद्ध के समय करपात्री जी द्वारा किये गए यज्ञों का उन्होंने पुस्तक लिखकर तीव्र विरोध किया था। इसी प्रकार सह शिक्षा की पद्धति पर अपने विचार प्रकट करते हुए आपने महिलाओं को आदर्श चरित्र निर्माण करने की अपील की थी।

डा० भगवानदास की महत्ता उनका दर्शन-सम्बन्धी प्रगाढ़ ज्ञान ही है। आप उन थोड़े-से व्यक्तियों में से हैं, जिन्हें विद्या का अजीर्ण नहीं होता, वे अपने ज्ञान को पचा सकते हैं। कुछ व्यक्तियों की यह

दशा होती है कि वे अध्ययन बहुत करते हैं; किन्तु उनके मस्तिष्क में निरन्तर ऐसी हल-चल मची रहती है कि ज्ञान के कण आपस में मिलने नहीं पाते। परन्तु *भगवानदास जी ने पाश्चात्य और प्राच्य विद्याओं का वस्तुतः समन्वय किया है।* वह समन्वय चाहे अन्य लोगों को रुचिकर न हो, किन्तु उन्होंने अपने लिए तो अपनी समस्त सामग्री को एक सूत्र में बांध लिया है। ऐसा वही कर सकता है, जिसमें स्वतंत्र विचार करने की शक्ति हो। साधारण विद्वान् संग्रह-कर्त्ता होता है, परन्तु आविष्कार करना, भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में से उस तत्त्व को ढूँढ़ निकालना, जो उनमें विद्यमान होकर उनको प्रेरित कर रहा है और विभिन्न विद्वानों के वाक्यों के पर्दे में से उस सत्य की झलक देखना, जिसके निरूपण की वे सब यथाशक्ति चेष्टा कर रहे हैं, सबका काम नहीं। किसी ने ठीक कहा है—*दर्शन-शास्त्र के अध्यापक तो बहुत होते हैं—पर दार्शनिक कोई विरला ही होता है।*

डा० भगवानदास बड़े विनम्र, दयालु और सादगी-पसंद व्यक्ति हैं। आप सर्वथा आडम्बर-हीन रहते हैं। घर का प्रबन्ध स्वयं करने में भी दक्ष हैं। हर प्रकार से सम्पन्न होने पर भी उनका जीवन सादगी से व्यतीत होता है। आपके दो सुयोग्य पुत्र हैं। माननीय श्रीप्रकाश इस समय आसाम के गवर्नर हैं और श्रीयुत चन्द्रभाल संयुक्त-प्रान्त की लेजिस्लेटिव कौंसिल के अध्यक्ष हैं।